कृषि-सम्बन्धी तीन अध्यादेश, मौजूदा किसान आन्दोलन और मज़दूर वर्ग

- **अभिनव**

जून 2020 में मोदी सरकार ने कृषि-सम्बन्धी तीन अध्यादेश पेश किये और सितम्बर 2020 में लोकसभा और राज्यसभा में काफ़ी हो-हल्ले के बीच उन्हें पारित कर दिया गया। अचानक सभी पूँजीवादी पार्टियाँ किसानों के पक्ष में खड़ी हो गयीं। यहाँ तक कि कुछ अनपढ़ "मार्क्सवादी" भी धनी किसानों व कुलकों के आन्दोलन के मंच पर 'बेगानी शादी में अब्दुल्ला दीवाना' के तर्ज़ पर अपना केंचुल नृत्य पेश करने लगे! शिरोमणि अकाली दल की सांसद व केन्द्र सरकार में मंत्री हरसिमरत कौर ने इस्तीफ़ा दे दिया और उनकी पार्टी ने भाजपा के साथ गठबन्धन पर "पुनर्विचार" की धमकी दे दी। संसदीय वामपन्थी भी कुलकों और धनी किसानों के सुर में सुर मिलाते हुए लाभकारी मूल्य को बचाने की इस कव्वाली में ताली पीटने लगे। कुछ तथाकथित "मार्क्सवादी", पर असल में क़ौमवादी भी इस कव्वाली में ताल देने के लिए अपना "संघवाद" का ढोलक लेकर पहुँच गये। मतलब, अच्छी-ख़ासी भसड़ मच गयी।

इस सारी भसड़ में वे मुद्दे ग़ायब थे या पीछे हो गये थे, जिन पर खड़े होकर मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों को इन अध्यादेशों/क़ानूनों का विरोध करना चाहिए। अधिकांश राजनीतिक शक्तियाँ इन अध्यादेशों के ज़रिये लाभकारी मूल्य की व्यवस्था के ख़त्म होने पर छाती पीट रही थीं, कुछ तथाकथित "मार्क्सवादी" भारत के संघीय ढाँचे पर मोदी सरकार के हमले और इन अध्यादेशों के ज़रिये "क़ौमी दमन" (??!!) पर स्यापा कर रहे थे, तो कुछ कृषि उत्पाद विपणन व्यवस्था यानी सरकारी मण्डियों के ख़त्म होने पर रो रहे थे। लेकिन असली सवाल ग़ायब थे। मौजूदा लेख में हम विस्तार से चर्चा करेंगे कि इन कृषि-सम्बन्धी अध्यादेशों से किन्हें लाभ होगा, किन्हें नुक़सान होगा, मौजूदा किसान आन्दोलन का वर्ग चरित्र क्या है, और क्या मज़दूर वर्ग इन अध्यादेशों के मज़दूर व ग़रीब-विरोधी प्रावधानों का विरोध गाँव के पूँजीपति वर्ग, यानी धनी किसानों व कुलकों के मंच से कर सकता है?

सबसे पहले इन तीन अध्यादेशों के मुख्य प्रावधानों पर ग़ौर कर लेते हैं।

1. कृषि-सम्बन्धी तीन अध्यादेश: इन अध्यादेशों में क्या है?

इन तीनों अध्यादेशों के प्रावधानों में सबसे प्रमुख यह है कि सरकार ने खेती के उत्पाद की ख़रीद के क्षेत्र में, यानी खेती के उत्पाद के व्यापार के क्षेत्र में उदारीकरण का रास्ता साफ़ कर दिया है। पहले अध्यादेश यानी 'फार्म प्रोड्यूस ट्रेड एण्ड कॉमर्स (प्रमोशन एण्ड फैसिलिटेशन) ऑर्डिनेंस' का मूल बिन्दु यही है। अब कोई भी निजी ख़रीदार किसानों से सीधे खेती के उत्पाद ख़रीद सकेगा, जो कि पहले ए.पी.एम.सी. (एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केटिंग कमिटी) की मण्डियों में सरकारी तौर पर निर्धारित लाभकारी मूल्य पर ही कर सकता था। यानी, खेती के

उत्पादों की क़ीमत पर सरकारी नियंत्रण और विनियमन को ढीला कर दिया गया है और उसे खुले बाज़ार की गति पर छोड़ने का इन्तज़ाम कर दिया गया है।

धनी किसानों व कुलकों को डर है कि इसकी वजह से उन्हें सरकार द्वारा तय मूल्य सुनिश्चित नहीं हो पायेगा और कारपोरेट ख़रीदार कम क़ीमतों पर सीधे खेती के उत्पाद की ख़रीद करेंगे। हो सकता है कि ये शुरू में अधिक क़ीमतें दें, लेकिन बाद में, अपनी इजारेदारी क़ायम होने के बाद, ये किसानों को कम क़ीमतें देंगे। सरकार ने इन सरकारी मण्डियों और लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को औपचारिक तौर पर ख़त्म नहीं किया है, लेकिन इसका नतीजा यही होगा कि ये मण्डियाँ कालान्तर में समाप्त हो जायेंगी या वे बचेंगी भी तो उनका कोई .ज़्यादा मतलब नहीं रह जायेगा। वजह यह है कि इन मण्डियों के बाहर व्यापार क्षेत्रों में होने वाले विपणन में किसानों व व्यापारियों पर कोई शुल्क या कर नहीं लगाया जायेगा। नतीजा यह होगा कि लाभकारी मूल्य की व्यवस्था भी प्रभावत: समाप्त हो जायेगी, भले ही उसे औपचारिक तौर पर समाप्त न किया जाये।

इसलिए मौजूदा किसान आन्दोलन के केन्द्र में लाभकारी मूल्य का सवाल है और यही उसके लिए सबसे अहम मुद्दा है या कह सकते हैं कि उसके लिए यही एकमात्र मुद्दा है। इस पहले ही अध्यादेश में सरकारी मण्डी के बाहर होने वाली ख़रीद को तमाम करों व शुल्कों से मुक्त करने और विवाद के निपटारे की व्यवस्था के प्रावधान भी हैं, जिनका किसान संगठन विरोध कर रहे हैं। **लेकिन इनका भी रिश्ता मूलत: यह सुनिश्चित करने से ही है कि लाभकारी मूल्य मिले।**

मौजूदा आन्दोलन जो मुख्यत: हरियाणा और पंजाब में जारी है और कुछ हद तक तमिलनाडु और आन्ध्रप्रदेश में जारी है, उसकी मूल और मुख्य आपत्ति इस पहले अध्यादेश के प्रावधानों पर ही है, जो कि कृषि उत्पाद के व्यापार पर से ए.पी.एम.सी. मण्डी के एकाधिकार को समाप्त करता है। यह लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को भी एक प्रकार से निष्प्रभावी बना देगा। इन दो राज्यों के अलावा, अन्य राज्यों में इस आन्दोलन का कोई ख़ास असर नहीं है या बेहद कम असर है। महाराष्ट्र के किसानों के संगठन जैसे कि शेतकरी संगठन के अनिल घनवत और स्वाभिमानी पक्ष के राजू शेट्टी ने इन अध्यादेशों का स्वागत किया है। सरकारी ख़रीद का 70 प्रतिशत से भी ज़्यादा हरियाणा और पंजाब से होता है। 2019-20 में ही 80,294 करोड़ रुपये का धान और गेहूँ लाभकारी मूल्य पर ख़रीदा गया था।

दूसरी चिन्ता जो कि इस पहले अध्यादेश से पैदा हुई है वह आढ़तियों की है। पंजाब में ही 28,000 से ज़्यादा आढ़ती हैं। इन्हें लाभकारी मूल्य के ऊपर 2.5 प्रतिशत का कमीशन मिलता है। पंजाब और हरियाणा में इस कमीशन से इन आढ़तियों ने पिछले वर्ष 2000 करोड़ रुपये कमाये हैं। अक्सर धनी किसान व कुलक ही आढ़ती व मध्यस्थ व्यापारी की भूमिका में भी होते हैं, सूदखोर की भूमिका में भी होते हैं, और निम्न मँझोले और ग़रीब किसानों से लाभकारी मूल्य से काफ़ी कम दाम पर उत्पाद ख़रीदते हैं और उसे लाभकारी मूल्य पर बेचकर और साथ ही कमीशन के ज़रिये मुनाफ़ा कमाते हैं।

इसके अलावा, राज्य सरकारों को भी ए.पी.एम.सी. मण्डी में होने वाली बिकवाली पर कर प्राप्त होता है, जैसे कि पंजाब में धान और गेहूँ पर 6 प्रतिशत, बासमती चावल पर 4 प्रतिशत और कपास और मक्का पर 2 प्रतिशत शुल्क लिया जाता है। पिछले वर्ष पंजाब सरकार को इससे 3500 से 3600 करोड़ रुपये का राजस्व प्राप्त हुआ था। पंजाब और हरियाणा के किसान संगठनों का कहना है कि यदि यह राजस्व प्राप्त नहीं होगा तो राज्य सरकार गाँव

के अवसंरचनागत ढाँचे को बेहतर नहीं बना पायेगी और किसानों के लिए अपने उत्पाद की बिकवाली और परिवहन और भी मुश्किल हो जायेगा। लेकिन महाराष्ट्र के किसान संगठनों के नेताओं जैसे कि शेट्टी और घनवत का कहना है कि इस राजस्व से वैसे भी ग्रामीण अवसंरचनागत ढाँचे में कोई ख़ास निवेश नहीं होता था और इसके हट जाने पर भी निजी निवेशक कृषि उत्पाद के विपणन के तंत्र को चुस्त-दुरुस्त करने के लिए आवश्यक अवसंरचना में निवेश करेंगे क्योंकि यह उनके लिए भी ज़रूरी होगा।

दूसरी बात यह है कि सभी किसान संगठन ए.पी.एम.सी. मण्डियों के एकाधिकार ख़त्म होने पर अलग से आपत्ति नहीं कर रहे हैं बल्कि सिर्फ़ इसलिए आपत्ति कर रहे हैं क्योंकि यह लाभकारी मूल्य को सुनिश्चित करती थी। इसीलिए अखिल भारतीय किसान सभा के विजू कृष्णन ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि *सरकार यदि लाभकारी मूल्य को किसानों का क़ानूनी अधिकार बना दे ताकि कोई निजी ख़रीदार भी लाभकारी मूल्य देने के लिए बाध्य हो, तो उन्हें ए.पी.एम.सी. मण्डी के एकाधिकार के समाप्त होने से कोई दिक़्क़त नहीं है।*

दूसरे अध्यादेश का नाम है 'दि फार्मर्स (एम्पावरमेण्ट एण्ड प्रोटेक्शन) एग्रीमेण्ट ऑन प्राइस अश्योरेंस एण्ड फार्म सर्विसेज़ ऑर्डिनेंस' जिसके अनुसार किसान अब अपने उत्पाद को ए.पी.एम.सी. मण्डी के लाइसेंसधारी व्यापारी के ज़रिये बेचने के लिए बाध्य नहीं हैं और साथ ही वे किसी भी कम्पनी, स्पॉन्सर, बिचौलिये के साथ किसी भी उत्पाद के उत्पादन के लिए सीधे क़रार कर सकते हैं। इसके लिए उन्हें ए.पी.एम.सी. के लाइसेंसधारी आढ़तियों या व्यापारियों के ज़रिये जाने की आवश्यकता नहीं है। इसके तहत उत्पादन शुरू होने से पहले ही उत्पाद की तय मात्रा, तय गुणवत्ता व क़िस्म तथा तय क़ीमतों के आधार पर किसान और किसी भी निजी स्पांसर, कम्पनी, आदि के बीच क़रार होगा। इस क़रारनामे की अधिकतम अवधि उन सभी उत्पादों के मामले में पाँच वर्ष होगी जिनके उत्पादन में पाँच वर्ष से अधिक समय नहीं लगता है। इसके ज़रिये अनिवार्य वस्तुओं के स्टॉक पर रखी गयी अधिकतम सीमा को भी हटा दिया गया है। यानी अब तमाम अनिवार्य वस्तुओं की जमाखोरी पर किसी प्रकार की रोक नहीं होगी, जोकि कालान्तर में इन वस्तुओं जैसे कि आलू, प्याज़ आदि की क़ीमतों को बढ़ा सकता है।

अपने आप में ठेका खेती के आने से आम मेहनतकश आबादी को कोई विशेष नुक़सान नहीं होने वाला है। छोटा और मंझोला किसान पहले भी ठेका खेती की व्यवस्था का शिकार था। फ़र्क़ बस यह था कि अभी तक ठेका खेती की व्यवस्था में उसे धनी किसान व आढ़ती लूट रहे थे। अब इस लूट के मैदान को बड़ी इजारेदार पूँजी के लिए साफ़ कर दिया गया है। इसके नतीजे अलग-अलग देशों और अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग सामने आये हैं। पश्चिम बंगाल में पेप्सी कम्पनी के साथ आलू के उत्पादन की ठेका खेती में किसानों को प्रति किलोग्राम 5 रुपये तक ज़्यादा मिल रहे हैं। वहीं आन्ध्र प्रदेश में चन्द्रबाबू नायडू के मुख्यमंत्रित्व में जो ठेका खेती का मॉडल लागू किया गया, उसमें धनी और मंझोले किसानों को हानि हुई। ग़रीब व निम्न-मंझोला किसान तो पहले भी धनी व उच्च मध्यम किसानों द्वारा ठेका खेती व अन्य तरीक़ों से लूटा ही जा रहा था। वह अब बड़ी पूँजी द्वारा लूटा जायेगा। **इसलिए ठेका खेती पर केन्द्रित इस दूसरे अध्यादेश से जो मूल परिवर्तन होने वाला है, वह केवल इतना है कि व्यापक ग़रीब व निम्न-मंझोले किसान के लूट की धनी किसानों, उच्च मध्यम किसानों व आढ़तियों द्वारा इजारेदारी ख़त्म हो जायेगी और खेती के क्षेत्र में कारपोरेट पूँजी के बड़े पैमाने पर प्रवेश के साथ धनी किसान, कुलक व फार्मरों के लिए प्रतिस्पर्द्धा करना मुश्किल हो जायेगा।**

तीसरा अध्यादेश सीधे तौर पर आवश्यक वस्तु क़ानून में परिवर्तन करते हुए जमाखोरी और काला बाज़ारी को बढ़ाने की छूट देता है क्योंकि ये कई आवश्यक वस्तुओं की स्टॉकिंग पर सीमा को युद्ध जैसी आपात स्थितियों के अतिरिक्त समाप्त कर देता है। **यह तीसरा अध्यादेश सीधे तौर पर मेहनतकश जनता के हितों के विरुद्ध जाता है। यह वह अध्यादेश है जो कि सीधे-सीधे आम मेहनतकश जनता को प्रभावित करता है और उसके वर्ग हितों को नुक़सान पहुँचाता है और जिसका विरोध किये जाने की सख़्त ज़रूरत है। लेकिन आप पायेंगे कि धनी किसानों व कुलकों के राजनीतिक संगठनों के नेतृत्व में जो मौजूदा किसान आन्दोलन जारी है, वह इस तीसरे अध्यादेश पर ज़्यादा कुछ नहीं बोल रहा है।**

इन अध्यादेशों का रिश्ता सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से बहाल करने की माँग से भी जुड़ा हुआ है। केन्द्र सरकार पहले से ही इस कोशिश में है कि वह सार्वजनिक वितरण प्रणाली की ज़िम्मेदारी से पूरी तरह से पिण्ड छुड़ा ले और यह ज़िम्मेदारी राज्य सरकारों पर डालने की वकालत कर रही है। ज़ाहिर है, इस प्रस्ताव का अर्थ ही यह है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली को पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया जाय जो कि व्यापक मेहनतकश आबादी की खाद्य सुरक्षा को समाप्त कर देगी। इसलिए समूचे मज़दूर वर्ग, अर्द्धसर्वहारा वर्ग तथा ग़रीब व निम्न मध्यम किसान वर्ग की एक माँग यह भी बनती है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से बहाल किया जाये।

लुब्बेलुबाब यह कि मौजूदा किसान आन्दोलन जिन वजहों से कृषि अध्यादेशों का विरोध कर रहा है, वह मूलत: और मुख्यत: लाभकारी मूल्य के सवाल पर केन्द्रित है। इसकी मुख्य चिन्ता यह है कि इन अध्यादेशों के साथ लाभकारी मूल्य की व्यवस्था समाप्त हो जायेगी। इसलिए मुख्य रूप से गाँव के लेकिन साथ ही शहर के मज़दूर वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग और गाँव के ग़रीब किसान व अर्द्धसर्वहारा वर्ग के लिए प्रमुख प्रश्न यह बनता है कि लाभकारी मूल्य पर उसका क्या नज़रिया होना चाहिए। तथ्यों से सत्य का निवारण होता है और इसलिए हम सबसे पहले कुछ तथ्यों पर नज़र डालेंगे जिससे कि लाभकारी मूल्य के लाभार्थी वर्ग की सही पहचान हो सके।

2. लाभकारी मूल्य की व्यवस्था: किसका फ़ायदा, किसका नुक़सान?

इस सच्चाई की ओर हम पहले भी कई बार 'मज़दूर बिगुल' में ध्यानाकर्षित कर चुके हैं और हमारे अलावा कई अन्य प्रेक्षकों ने भी इसे स्वीकार किया है कि लाभकारी मूल्य की व्यवस्था का लाभ मुख्यत: 4 से 6 प्रतिशत धनी किसानों व कुलकों को होता है। इसे आँकड़ों से समझना ज़रूरी है इसलिए कुछ आँकड़ों पर निगाह डाल लेते हैं। अभी हम पहले खेतिहर मज़दूरों की बात नहीं करेंगे और केवल किसानों पर केन्द्रित करेंगे।

2013 की नेशनल सैम्पल सर्वे रिपोर्ट के अनुसार देश के एक-तिहाई किसानों के पास 0.4 हेक्टेयर से कम ज़मीन है। उनकी कुल आमदनी का केवल छठा हिस्सा, यानी 16 प्रतिशत ही खेती से आता है और अन्य 84 प्रतिशत उजरती श्रम यानी मज़दूरी से आता है। इसके अलावा एक-तिहाई किसानों के पास 0.4 हेक्टेयर से 1 हेक्टेयर ज़मीन है। इनकी कुल आमदनी का 40 प्रतिशत खेती से आता है और अन्य 60 प्रतिशत मुख्यत: उजरती श्रम से आता है। इन दोनों को मिला दिया जाये, तो कुल किसान आबादी का 70 प्रतिशत बनता है।

इन किसानों को लाभकारी मूल्य मिलता ही नहीं है। क्यों नहीं मिलता है, इस पर थोड़ा आगे आयेंगे। **दूसरी अहम बात यह है कि ये किसान मुख्य रूप से कृषि उत्पादों के ख़रीदार हैं, न कि विक्रेता।** नतीजतन, लाभकारी मूल्य में होने वाली किसी भी बढ़ोत्तरी से इन्हें फ़ायदा नहीं बल्कि नुक़सान होता है। वजह यह है कि लाभकारी मूल्य के बढ़ने के साथ हमेशा ही कृषि उत्पादों की क़ीमतों और साथ ही अपने उत्पादन के लिए उन पर निर्भर औद्योगिक उत्पादों की क़ीमतों में भी बढ़ोत्तरी होती है।

आँकड़ों के अनुसार, इन 70 प्रतिशत किसानों का अपने उपभोग पर ख़र्च इनकी आमदनी से ज़्यादा रहता है। नतीजतन, अपने खेतों पर काम करने के लिए चालू पूँजी (working capital) **के लिए ये ऋण पर निर्भर रहते हैं।** यह ऋण इन्हें वित्तीय संस्थाओं से नहीं मिलता क्योंकि बैंकों व अन्य वित्तीय संस्थाओं के ऋण तक इनकी पहुँच ही नहीं है। फिर इन्हें ये ऋण कौन देता है? ये ऋण इन्हें धनी किसान, कुलक व आढ़ती देते हैं। अक्सर धनी किसान ही कृषि उत्पादों का व्यापारी व आढ़ती भी होता है और इन ग़रीब किसानों के लिए लुटेरा सूदखोर भी। **चूंकि 70 प्रतिशत बेहद ग़रीब किसान इनके ऋणों तले दबा होता है, इसलिए ये धनी किसान, कुलक व आढ़ती इन्हें लाभकारी मूल्य व बाज़ार क़ीमत से बेहद कम दाम पर अपने उत्पाद को उन्हें बेचने के लिए बाध्य करते हैं। इसके अलावा, ग़रीब और निम्न मध्यम किसान इसलिए भी सीधे मण्डियों तक पहुँच नहीं रखते क्योंकि उसके लिए परिवहन की सुविधा तथा पूँजी की आवश्यकता होती है, जोकि इनके पास होती ही नहीं और वे अपने उत्पाद के विपणन के लिए इसलिए भी ग्रामीण क्षेत्र के पूँजीपति वर्ग यानी धनी किसान, कुलक, आढ़तियों व सूदखोरों पर निर्भर करते हैं। इस उत्पाद को ये धनी किसान, कुलक व आढ़ती लाभकारी मूल्य पर बेचते हैं और साथ ही आढ़ती इस लाभकारी मूल्य के ऊपर कमीशन भी कमाते हैं।**

देश के 92 प्रतिशत किसानों के पास 2 हेक्टेयर से कम ज़मीन है। यानी कि ग़रीब और बेहद ग़रीब व परिधिगत किसान आबादी को जोड़ दें, तो कुल किसान आबादी का 92 प्रतिशत बनता है। ये वे किसान हैं जिन्हें लाभकारी मूल्य का या तो कोई लाभ नहीं मिलता और नुक़सान होता है, या फिर ज़्यादा से ज़्यादा इसके बेहद छोटे उच्चतम हिस्से को कुछ नगण्य लाभ मिलता है। ये वे किसान हैं जो कृषि उत्पाद, मुख्यत: खाद्यान्न के ख़रीदार हैं, न कि विक्रेता। इन्हें लाभकारी मूल्य और उसमें होने वाली बढ़ोत्तरी से कुछ भी हासिल नहीं होता है, उल्टे नुक़सान होता है।

फिर लाभकारी मूल्य से लाभ किसे होता है? इस पर भी तथ्यों को देख लेते हैं।

देश के कुल किसानों में से केवल 4.1 प्रतिशत किसान हैं जिनके पास 4 हेक्टेयर या उससे ज़्यादा ज़मीन है। इनकी आमदनी का तीन चौथाई हिस्सा खेती से आता है। बाक़ी भी कमीशन व सूदखोरी आदि से ही आता है, उजरती श्रम से कम ही आता है। यानी इनकी घरेलू अर्थव्यवस्था खेती से आने वाली आमदनी पर टिकी हुई है। याद रखें, ये आम तौर पर वे किसान हैं, जो उजरती श्रम का शोषण करके ही खेती कर सकते हैं। ये स्वयं अपने और अपने परिवार के श्रम के बूते खेती नहीं करते। वास्तव में, ज़्यादातर मामलों में वे स्वयं खेत में श्रम करते ही नहीं हैं और इनके खेतों में उत्पादक श्रम पूरी तरह से उजरती श्रम करने वाले खेत मज़दूर या ग़रीब किसान होते हैं। ये वह वर्ग है जो कोई कर नहीं देता है, जिन्हें सभी क़र्ज़ माफ़ी की योजनाओं का लाभ मिलता है और जो लाभकारी मूल्य की व्यवस्था के लाभार्थी हैं। इन्हें "अन्नदाता" कहना एक भद्दा मज़ाक़ है। अगर ये धनी किसान व

कुलक अन्नदाता हैं, तो रिलायंस गैसदाता है, लिबर्टी जूतादाता है, टाइटन घड़ीदाता है, इत्यादि। यह तर्क वही है जो नरेन्द्र मोदी ने दिया है: कि पूँजीपति समृद्धि पैदा करता है। सच यह है कि खेतिहर मज़दूर और ग़रीब किसान देश के अन्नदाता हैं और धनी किसान और कुलक इन मेहनतकश वर्गों की श्रमशक्ति को लूटने वाले परजीवी वर्ग हैं।

शान्ता कुमार कमेटी की रपट के अनुसार देश के सभी किसानों में से केवल 5.8 प्रतिशत किसान ही लाभकारी मूल्य पर अपने उत्पाद को बेच पाते हैं और ये भी अपने उत्पाद का 14 से 35 प्रतिशत ही लाभकारी मूल्य पर बेच पाते हैं। वजह यह है कि लाभकारी मूल्य का भी पूरा लाभ केवल धनी किसान व कुलक ही उठा पाते हैं, न कि उच्च मध्यम व मध्यम किसान।

अब देखते हैं कि लाभकारी मूल्य के बढ़ने का मेहनतकश आबादी पर क्या असर पड़ता है।

2016 में अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने एक रपट पेश की जिसे सज्जाद चिनॉय, पंकज कुमार और प्राची मिश्रा ने लिखा था। यह रपट भारत में लाभकारी मूल्य की व्यवस्था और कृषि उत्पाद की क़ीमतों पर विस्तार से चर्चा करती है। **इसके अनुसार, लाभकारी मूल्य के बढ़ने का सबसे ज़्यादा नुक़सान ग्रामीण और शहरी मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों को होता है।** वजह यह है कि जब भी लाभकारी मूल्य बढ़ता है तो खाद्यान्न महँगा होता है और साथ ही वे औद्योगिक उत्पाद भी महंगे होते हैं, जो अपने उत्पादन के इनपुट यानी कच्चे माल के तौर पर कृषि उत्पादों का उपयोग करते हैं। ज़ाहिर है ऐसे औद्योगिक मालों के दायरे में बड़े पैमाने पर वे वस्तुएं आती हैं, जो व्यापक मेहनतकश आबादी ख़रीदती है। **नतीजतन, एक ओर खाद्यान्न की क़ीमतें बढ़ती हैं और दूसरी ओर मज़दूरों-मेहनतकशों द्वारा ख़रीदे जाने वाले ग़ैर-खेती उत्पादों की क़ीमतों में भी वृद्धि होती है।**

खाद्यान्न की माँग में एक हद तक ही लचीलापन होता है और वह ज़्यादा रूढ़ होती है, इसलिए बढ़ती क़ीमतों के बावजूद उनकी माँग एक स्तर से नीचे नहीं गिर सकती है। लेकिन अन्य वस्तुओं की माँग में अधिक लचीलापन होता है और नतीजतन उनकी माँग में गिरावट आती है। **इन सबका नतीजा यह होता है कि मज़दूरों और आम मेहनतकश आबादी के परिवारों के ख़र्च में खाद्यान्न पर ख़र्च होने वाला हिस्सा अपने आप में तो कम होता है, लेकिन अन्य वस्तुओं व सेवाओं पर होने वाले ख़र्च की तुलना में बढ़ता है। सरल शब्दों में कहें तो एक ओर आम मेहनतकश आबादी पहले से कम भोजन का उपभोग करती है और उसकी भोजन सुरक्षा घटती है, मगर फिर भी वह अपनी आमदनी का पहले से ज़्यादा बड़ा हिस्सा भोजन पर ख़र्च कर रही होती है और नतीजतन, अन्य वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग वह पहले से कम करती है, जिसके कारण इन वस्तुओं और सेवाओं की कुल घरेलू माँग में भी कमी आती है।**

इसका नतीजा भी यह होता है कि मुनाफ़े की दर के संकट की शिकार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था घरेलू माँग के सिमटने के कारण संकट के भंवर में और भी गहरी फंस जाती है, क्योंकि उत्पादित मालों का न बिक पाना (वास्तवीकरण का संकट) अपने आप में संकट का कारण नहीं होता, लेकिन पहले से मौजूद मुनाफ़े की औसत दर के गिरने के संकट को बढ़ावा देता है। अन्त में, इसकी क़ीमत भी मज़दूर वर्ग ही चुकाता है क्योंकि निवेश की दर इस संकट के कारण गिरती है और मज़दूर वर्ग को छंटनी व तालाबन्दी और नतीजतन बढ़ती बेरोज़गारी और घटती औसत मज़दूरी का सामना करना पड़ता है।

3. औद्योगिक पूँजीपति वर्ग और कृषक पूँजीपति वर्ग के बीच अन्तरविरोध और मज़दूर वर्ग की अवस्थिति

खाद्यान्न की क़ीमतों और खेती के उत्पादों पर अपने उत्पादन के लिए निर्भर औद्योगिक उत्पादों की क़ीमतों में बढ़ोत्तरी औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के लिए भी बुरे शकुन के समान होती है। यह एक ओर औसत मज़दूरी पर बढ़ोत्तरी का दबाव पैदा करती है और वहीं दूसरी ओर उन औद्योगिक उत्पादों की कुल माँग में कमी लाती है, जो कि मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी ख़रीदती है, यानी कि तमाम ग़ैर-टिकाऊ उपभोक्ता सामग्रियाँ।

औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के लिए भी यह अच्छा नहीं होता है क्योंकि एक ओर उसके द्वारा उत्पादित ग़ैर-टिकाऊ उपभोक्ता सामग्रियों की माँग पहले से घटती है और एक वास्तवीकरण (यानी अपना माल बेच पाने) की समस्या पैदा होती है और दूसरी ओर औद्योगिक मज़दूर वर्ग की औसत मज़दूरी पर बढ़ने का दबाव पैदा होता है। **निश्चित तौर पर, मज़दूरों को बेची जाने वाली ग़ैर-खेती वस्तुओं और सेवाओं की माँग में कमी अपने आप में पूँजीवादी संकट पैदा नहीं करती है (क्योंकि पूँजीवादी संकट का मूल मुनाफ़े की औसत दर के गिरने का संकट है जो कि पूँजीपति वर्ग की आपसी ख़रीद में कमी आने में अभिव्यक्त होता है, जिसका बड़ा हिस्सा उत्पादन के साधनों की ख़रीद-फ़रोख़्त होता है), लेकिन वे पूँजीवादी संकट को तीव्र करती हैं।** लेकिन औसत मज़दूरी में बढ़ोत्तरी मुनाफ़े की औसत दर को और भी घटाती है क्योंकि कुल उत्पादित मूल्य में यदि मज़दूरी का हिस्सा बढ़ता है तो मुनाफ़े का हिस्सा सापेक्षिक रूप से घटता है। एक ओर पूँजी के बढ़ते आवयविक संघटन के कारण और दूसरी ओर औसत मज़दूरी में बढ़ोत्तरी के दबाव के कारण पूँजीवादी आर्थिक संकट पैदा होता है और मज़दूरों द्वारा ख़रीदे जाने वाले औद्योगिक उत्पादों की माँग में कमी के कारण उसके सामने वास्तवीकरण का जो संकट पैदा होता है, वह इस संकट को और भी तीव्र बना देता है।

औसत मज़दूरी पर बढ़ने के लिए पैदा होने वाले दबाव के बावजूद औद्योगिक पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग की औसत मज़दूरी को बढ़ने से रोकने का हर सम्भव प्रयास करता है, जिसका नतीजा मज़दूर वर्ग को भुगतना पड़ता है। **लेकिन अगर खाद्यान्नों व खेती के उत्पादों की क़ीमतें बढ़ती रहती हैं और इसकी वजह से उन औद्योगिक उत्पादों (जिन्हें मज़दूर ख़रीदते हैं) की क़ीमतें बढ़ती रहती हैं जो कि खेती के उत्पादों को अपने उत्पादन के कच्चे माल के तौर पर लेते हैं, तो फिर पूँजीपति वर्ग को एक सीमा के बाद मज़दूरी को बढ़ाना ही पड़ता है क्योंकि मज़दूर वर्ग ऐसी स्थिति में काम करने योग्य हालत में अपनी श्रमशक्ति का पुनरुत्पादन नहीं कर सकता है। साथ ही यह समाज में असन्तोष को बढ़ाता है और एक विस्फोटक स्थिति की तरफ़ जा सकता है। ऐसा सामाजिक संकट कुछ अन्य पूर्वशर्तों के पूरा होने पर राजनीतिक संकट में भी तब्दील हो सकता है। इसलिए भी पूँजीपति वर्ग को ऐसी स्थितियों में मज़दूरी बढ़ानी पड़ सकती है।**

इंग्लैण्ड में मक्का क़ानूनों (corn laws) का विवाद उन्नीसवीं सदी में इसी वजह से पैदा हुआ था। मक्का क़ानूनों के कारण इंग्लैण्ड का पूँजीपति वर्ग सस्ते मक्के का आयात नहीं कर पा रहा था। इंग्लैण्ड का ग्रामीण पूँजीपति वर्ग किसी भी क़ीमत पर उन करों व शुल्कों की व्यवस्था को क़ायम रखना चाहता था जो कि आयातित मक्के पर

लगाये जाते थे क्योंकि इसी के कारण वह आयातित मक्के से बाज़ार में मुक़ाबला कर पाता था। नतीजतन, मक्के की क़ीमतें इंग्लैण्ड में ज़्यादा थीं और मक्का प्रमुख अनाज था जिसका उपभोग इंग्लैण्ड के मज़दूर करते थे। महंगे मक्के के कारण मज़दूरी पर बढ़ने का दबाव बना रहता था। अन्ततः औद्योगिक पूँजीपति वर्ग की बढ़ती राजनीतिक शक्ति के कारण इंग्लैण्ड की बुर्जुआ राज्यसत्ता ने इन मक्का क़ानूनों को समाप्त कर दिया। इसकी वजह से औद्योगिक पूँजीपति वर्ग को फ़ायदा पहुँचा हालांकि ग्रामीण पूँजीपति वर्ग के लिए प्रतिस्पर्द्धा बढ़ गयी और उसे आगे चलकर उत्तरोत्तर मशीनीकरण व उत्पादक शक्तियों के विकास के लिए बाध्य होना पड़ा। निश्चित तौर पर, इसके कारण किसानों की आबादी के एक हिस्से का सर्वहाराकरण हुआ और किसानों के बीच विभेदीकरण भी बढ़ा। ये ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील परिवर्तन थे और इन पर टेसू बहाना मार्क्स और एंगेल्स निकृष्टतम कोटि की टटपुँजिया ग़लाज़त मानते थे। औसत मज़दूरी पर बढ़ने के दबाव के कम होने के कारण पूँजीपति वर्ग के लिए अपने मुनाफ़े की दर को बढ़ाना सम्भव हो गया।

इसलिए ***आम तौर पर*** औद्योगिक और वित्तीय पूँजीपति वर्ग व्यापक मेहनतकश आबादी के उपभोग में आने वाले खाद्यान्नों की क़ीमतों को बढ़ाने में अपना हित नहीं देखता है, बल्कि उसे घटाने या नियंत्रण में रखने में अपना हित देखता है। साथ ही वह अन्य कृषि उत्पादों की क़ीमतों को भी कम रखना चाहता है, जो कि उद्योग में होने वाले उत्पादन में कच्चे माल के रूप में प्रयोग किये जाते हैं। आज यदि वित्तीय और औद्योगिक पूँजीपति वर्ग लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को अपना निशाना बना रहा है और खेती के उत्पाद के व्यापार में बाज़ार की शक्तियों को खुला हाथ देना चाहता है और राजकीय विनियमन और संरक्षण को समाप्त करना चाहता है, तो इसके पीछे कृषक पूँजीपति वर्ग और औद्योगिक व वित्तीय पूँजीपति वर्ग का यह अन्तरविरोध भी काम कर रहा है, हालांकि यह दुश्मनाना अन्तरविरोध नहीं है। यह अन्तरविरोध अलग-अलग समय पर बेहद तीखा ज़रूर हो सकता है, मगर यह उन अर्थों में शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध नहीं बन सकता है जिन अर्थों में सर्वहारा वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच का अन्तरविरोध एक शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध होता है।

इतिहास गवाह है कि औद्योगिक व वित्तीय पूँजीपति वर्ग द्वारा खेती के उत्पादन तथा उसके उत्पादों के व्यापार के क्षेत्र के उदारीकरण, यानी उसे पूर्ण रूप से बाज़ार की शक्तियों के हवाले किये जाने से खेती के क्षेत्र में भी इजारेदारीकरण बढ़ता है, बड़ी कारपोरेट पूँजी तथा धनी किसानों व कुलकों के वर्ग के *एक हिस्से को* उससे लाभ ही होता है। निश्चित तौर पर, इससे धनी व उच्च मध्यम किसानों का भी एक छोटा हिस्सा बरबाद होता है या सामाजिक-आर्थिक पदानुक्रम में नीचे जाता है। लेकिन ग़रीब किसानों और खेतिहर मज़दूरों की व्यापक आबादी के लिए ऐसे उदारीकरण से पहले की व्यवस्था भी कोई विशेष लाभदायक नहीं होती है। इस प्रकार के उदारीकरण का उसके लिए मुख्य असर यही होता है कि उसे लूटने और खसोटने वाला प्रमुख वर्ग बदल जाता है। उसकी लूट पहले भी जारी होती है और बाद में भी और पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर इसे ख़त्म किया ही नहीं जा सकता है। वह धनी किसानों व कुलकों द्वारा खेतिहर उत्पादन व खेती के उत्पाद के व्यापार की व्यवस्था में भी लुट और बरबाद हो रहा होता है और बड़ी कारपोरेट पूँजी के इस क्षेत्र में प्रवेश के बाद भी उसकी नियति लुटना और उजड़ना ही होता है।

इसलिए लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को बनाये रखने या उसे बढ़ाने या ए.पी.एम.सी. मण्डियों की व्यवस्था को ज्यों का त्यों बरकरार रखने या न रखने का मसला ग्रामीण खेतिहर पूँजीपति वर्ग और बड़े

इजारेदार कारपोरेट पूँजीपति वर्ग के बीच का विवाद है। इसमें ग्रामीण खेतिहर मज़दूरों, ग्रामीण ग़ैर-खेतिहर मज़दूरों, ग़रीब व निम्न मंझोले किसानों, शहरी औद्योगिक व ग़ैर-औद्योगिक सर्वहारा वर्ग को धनी किसानों व कुलकों या कारपोरेट पूँजीपति वर्ग का साथ देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

उल्टे, जो तथाकथित "मार्क्सवादी" (असल में क़ौमवादी और नरोदवादी) ग़रीब किसानों व सर्वहारा वर्ग को इन धनी किसानों व कुलकों के प्रदर्शन के मंचों पर इनका पिछलग्गू बनाने का काम कर रहे हैं, वे समूचे मज़दूर आन्दोलन व कम्युनिस्ट आन्दोलन को नुक़सान पहुँचा रहे हैं। हमें मौजूदा कृषि अध्यादेशों में से विशेष तौर पर तीसरे अध्यादेश यानी आवश्यक वस्तुओं से सम्बन्धित अध्यादेश का सर्वहारा वर्गीय विरोध करना चाहिए और इसके लिए धनी किसानों व कुलकों के मंच पर जाकर उछल-कूद करने का कोई मतलब नहीं है। **इनमें से किसी एक (यानी धनी किसानों-कुलकों या कारपोरेट इजारेदार पूँजीपति वर्ग) के पीछे जाने का अर्थ है मज़दूर वर्ग की राजनीतिक स्वतंत्रता को खोना जो कि ग़रीब किसानों के लिए भी उतनी ही नुक़सानदेह है क्योंकि वह अब मुख्य रूप से उजरती श्रम पर निर्भर है, खेती पर नहीं।**

आज ग़रीब और निम्न मध्यम किसान वर्ग अपनी राजनीतिक चेतना की कमी के कारण यदि अपने ही वर्ग हितों के विपरीत धनी किसानों और कुलकों के आन्दोलन में भीड़ बढ़ाने का काम कर रहा है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मौजूदा किसान आन्दोलन उसके वर्ग हितों की हिमायत कर रहा है या उसकी नुमाइन्दगी कर रहा है।

अगले उपशीर्षक की ओर बढ़ने से पहले एक और पहलू पर बात करना यहाँ प्रासंगिक होगा। जब भी इस प्रकार के धनी किसानों व कुलकों के आन्दोलन होते हैं तो शहरी मध्यवर्ग का एक हिस्सा इसे लेकर ज़ज़्बाती हो उठता है। वह माँग करता है कि जनता को भी सस्ता अनाज मिलता रहे और धनी किसानों का लाभकारी मूल्य भी बढ़ता रहे, इसे सुनिश्चित करने के लिए सरकार सब्सिडी देकर इस कार्य को करे। यह प्रस्ताव दो कारणों से यूटोपियाई है। पहली बात तो यह कि खेतिहर पूँजीपति वर्ग और वित्तीय-औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के बीच के अन्तरविरोधों के मद्देनज़र यह सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार के प्रस्तावों की अव्यावहारिकता को स्वयं धनी किसानों व कुलकों का वर्ग भी समझता है। दूसरी बात यह है कि इन शहरी मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों के यह समझ में नहीं आता है कि धनी किसानों के लिए लाभकारी मूल्य बढ़ाने और साथ ही सस्ता भोजन मुहैया कराते रहने के लिए जिस सब्सिडी को देने की वकालत ये कर रहे हैं, वह सब्सिडी आयेगी कहाँ से? ज़ाहिर सी बात है, सरकार यह सब्सिडी अपने सरकारी खज़ाने या राजस्व से ही देगी। इस राजस्व का मुख्य स्रोत हैं तमाम अप्रत्यक्ष कर। इन अप्रत्यक्ष करों को मुख्यत: और मूलत: व्यापक मेहनतकश जनता देती है। यदि ऐसी कोई सब्सिडी दी जाती है, तो घुमा-फिराकर इसकी क़ीमत आम मेहनतकश जनता से ही बढ़े हुए अप्रत्यक्ष करों व महँगाई के रूप में वसूली जायेगी। इन दो कारणों से शहरी मध्यवर्ग के इन लोगों का यह प्रस्ताव यूटोपियाई और अव्यावहारिक है और इसे अमल में लाना सम्भव ही नहीं है।

4. धनी किसान व कुलक अचानक "मज़दूर-किसान एकता" का हिमायती क्यों हो गया है?

पहली बात तो यह है कि किसान *विशेष तौर पर* पूँजीवादी समाज में कोई एक सजातीय या एकाश्मी वर्ग नहीं होता है। सबसे पहले यह पूछना पड़ता है कि हम किस किसान की बात कर रहे हैं। क्या हम उन 86 प्रतिशत ग़रीब व परिधिगत किसानों की बात कर रहे हैं जो कि सवा हेक्टेयर से भी कम ज़मीन के मालिक हैं और मुख्य रूप से अपने जीविकोपार्जन के लिए उजरती श्रम पर निर्भर हैं, या फिर उन किसानों की बात कर रहे हैं जो कि 4 हेक्टेयर से अधिक भूमि के मालिक हैं और लाभकारी मूल्य का फ़ायदा पाते हैं और अच्छा-ख़ासा राजनीतिक असर और दबदबा रखते हैं।

इस दबदबे की शुरुआत कैसे हुई? इस पर भी एक नज़र डाल लेना उपयोगी होगा। 1960 में तथाकथित हरित क्रान्ति के बाद भारत में धनी किसानों व कुलकों-फार्मरों का एक विचारणीय आकार का वर्ग अस्तित्व में आया। इसमें धनी काश्तकार किसान भी शामिल थे। इस वर्ग के अस्तित्व में आने के बाद 1970 के दशक में इसका राजनीतिक प्रतिनिधित्व भी पूँजीवादी राजनीति में बढ़ने लगा। इसका अपनी माँगों के लेकर दबाव क्रमिक प्रक्रिया में बढ़ता गया। इसी दौर में चरण सिंह और देवी लाल जैसे नेता धनी किसानों व कुलकों के इस वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और उनकी उपस्थिति को राष्ट्रीय राजनीतिक पटल पर महसूस किया जाने लगा।

1980 के दशक की शुरुआत तक खेती के क्षेत्र में सरकारी नीति का ज़्यादा ध्यान खेती में सार्वजनिक निवेश के ज़रिये अवसरंचनागत ढाँचे को खड़ा करना था। इस समय तक सिंचाई व खेती के अन्य अवसंरचनागत ढाँचों में सार्वजनिक निवेश द्वारा बेहतरी पर ज़ोर था। वास्तव में, समूचे भारतीय पूँजीवादी विकास के पथ में ही 1980 के दशक की शुरुआत तक सरकारी निवेश द्वारा पूँजीपतियों के लिए एक अवसरंचना खड़ा करने पर ज़ोर था। जब एक दफ़ा निजी पूँजीपति वर्ग उद्योग की दुनिया में भी अपने पांवों पर खड़ा हो गया और एक अवसरंचनागत ढाँचा खड़ा हो गया तो फिर पूँजीवादी राज्यसत्ता ने एक क्रमिक प्रक्रिया में अर्थव्यवस्था में उदारीकरण की शुरुआत कर दी। **खेती के क्षेत्र में यह प्रक्रिया थोड़ा अलग तरीक़े से घटित हुई, हालांकि मूल तर्क वही था।**

हरित क्रान्ति के बाद धनी किसानों व कुलकों-फार्मरों के एक विचारणीय आकार के वर्ग के निर्माण के बाद खेती की अवसरंचना में निवेश की बजाय सरकारी नीति के केन्द्र में एक लाभकारी मूल्य को सुनिश्चित करने पर ज़ोर बढ़ गया। 1980 के दशक के अन्त तक कृषि उत्पाद की सरकारी ख़रीद का लगभग 70 प्रतिशत हिस्सा हरियाणा और पंजाब से आने लगा था। इस नीतिगत परिवर्तन के साथ खेती की अवसरंचना में सार्वजनिक निवेश में कमी आने लगी और पूरा ज़ोर लाभकारी मूल्य की व्यवस्था पर आ गया। उस समय खेती के क्षेत्र में पूँजी संचय भारतीय पूँजीपति वर्ग की आवश्यकता थी और इसके लिए इस व्यवस्था की आवश्यकता थी। जब यह नीति परिवर्तन हुआ तो उसका सबसे नकारात्मक असर ग़रीब और निम्न मध्यम किसान पर पड़ा जो कि सिंचाई आदि के लिए मानसून पर निर्भर थे। धनी किसान व कुलक सिंचाई के लिए मानसून पर उस हद तक निर्भर नहीं थे और भूजल के दोहन पर निर्भर कर सकते थे। रियायती दरों पर बिजली ने इसे धनी किसानों और कुलकों के लिए और भी सुगम बना दिया। कृषि में पूँजीवादी विकास व पूँजी संचय और इसके लिए एक खेतिहर पूँजीपति वर्ग का विस्तार उस दौर में भारतीय पूँजीवाद की ज़रूरत थी और खेतिहर पूँजीपति वर्ग और औद्योगिक-वित्तीय पूँजीपति वर्ग के बीच का यह क़रार इसी ज़रूरत की ही अभिव्यक्ति था।

आज के दौर में भारत के इजारेदार पूँजीपति वर्ग की ज़रूरतें बदल चुकी हैं। वैश्विक संकट के दौर में भारतीय खेती में भी संकट का एक दौर शुरू हुआ। **इस संकट के दौर में भी देश की समूची किसान आबादी के ऊपर के 4**

प्रतिशत धनी किसानों व कुलकों का ज़्यादा नुक़सान नहीं हुआ है, बल्कि ज़्यादातर मामलों में फ़ायदा ही हुआ है। वे अब तक लाभकारी मूल्य के तंत्र के बूते अपने पूँजी संचय को जारी रखने में कामयाब रहे हैं। इस संकट के पूरे दौर में, यानी 2004 से 2016 के बीच भी, भारतीय धनी किसानों व कुलकों द्वारा पावर टिलरों की ख़रीद में तीन गुना व ट्रैक्टरों की ख़रीद में ढाई गुना की बढ़ोत्तरी हुई है। दूसरे शब्दों में, भारत के ग्रामीण खेतिहर पूँजीपति वर्ग द्वारा पूँजी संचय कमोबेश स्वस्थ रूप से जारी रहा है और खेती में निवेश की उनकी दर और क्षमता में कुल मिलाकर बढ़ोत्तरी ही हुई है। फिर कृषि के संकट के कारण आत्महत्या करने वाले किसान कौन हैं? ये ज़्यादातर ग़रीब व पट्टे पर ज़मीन लेकर खेती करने वाले खेतिहर मज़दूर व अर्द्धसर्वहारा हैं, जोकि हमेशा ही ऋण तले दबे रहते हैं।

आज जब लाभकारी मूल्य व सरकारी मण्डियों की व्यवस्था इस धनी किसान व कुलक वर्ग से छीनी जा रही है, तो वह अचानक "मज़दूर-किसान एकता" का समर्थक बन गया है! आइये देखते हैं कि अभी हाल ही में और पहले भी यह धनी किसान व कुलक वर्ग खेतिहर मज़दूरों और ग़रीब किसानों के साथ क्या बर्ताव करता रहा है।

हाल ही में लॉकडाउन के शुरू होने के बाद पंजाब और हरियाणा में प्रवासी खेतिहर मज़दूरों की संख्या में बेहद कमी आ गयी थी। इसके कारण खेतिहर मज़दूरों द्वारा श्रमशक्ति की आपूर्ति में बेहद कमी आ गयी। इस आपूर्ति में कमी आने के कारण नैसर्गिक तौर पर खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी में बढ़ोत्तरी होने लगी। **ऐसे में, पंजाब और हरियाणा के कई गाँवों में धनी किसानों, उच्च मध्यम किसानों व कुलकों ने बाक़ायदा अपनी पंचायतों, खापों व सभाओं में मत डालकर अधिकतम मज़दूरी तय की। किसी भी किसान को इससे ज़्यादा मज़दूरी देने की इजाज़त नहीं थी और न ही गाँव के किसी खेत मज़दूर को कहीं और जाकर काम करने की इजाज़त थी। अगर वह जाता है तो उसका बहिष्कार किया जायेगा! यानी, गाँव के खेत मज़दूरों को धनी किसानों द्वारा तय मज़दूरी पर मज़दूरी करने के लिए बाध्य किया गया। उस समय मज़दूर-किसान एकता का नारा धनी किसानों व कुलकों के संगठनों को याद नहीं आया था।**

धनी किसानों व कुलकों ने खेत मज़दूरों के लिए न्यूनतम मज़दूरी व अन्य श्रम अधिकारों को सुनिश्चित करने की माँगों का हमेशा विरोध किया है। श्रम क़ानून एक पूँजीवादी व्यवस्था में *कम-से-कम औपचारिक तौर पर* राज्यसत्ता द्वारा दिया जाने वाला एक प्रकार का संरक्षण है, ठीक उसी प्रकार जैसे लाभकारी मूल्य धनी किसानों व कुलकों को राज्यसत्ता द्वारा दिया जाने वाला एक संरक्षण है, हालांकि ये दो अलग प्रकार के संरक्षण हैं। **धनी किसान व कुलक अपने लिए तो राज्यसत्ता से संरक्षण चाहते हैं, लेकिन ग़रीब किसान व खेत मज़दूर यदि अपने लिए श्रम क़ानूनों के रूप में संरक्षण की माँग करते हैं, तो उसका विरोध करते हैं। क्या मौजूदा किसान आन्दोलन चला रहे तमाम किसान संगठन इस माँग को स्वीकार करेंगे कि सभी खेत मज़दूरों को भी क़ानूनी तौर पर साप्ताहिक छुट्टी, आठ घण्टे का कार्यदिवस, न्यूनतम मज़दूरी, दोगुनी दर से ओवरटाइम का भुगतान आदि प्राप्त हो? क्या मौजूदा आन्दोलन की माँगों में वे इन माँगों को शामिल करेंगे और इन्हें प्राथमिकता देंगे? नहीं!**

तो फिर इन धनी किसानों व कुलकों के मंचों से आज अचानक जो "मज़दूर-किसान एकता" का नारा उठाया जा रहा है, उसका मतलब क्या है? कुछ भी नहीं! यह धनी किसानों और कुलकों की माँगों के लिए ग़रीब किसानों व

खेत मज़दूरों को उनके ही वर्ग हित के ख़िलाफ़ इकट्ठा करना है। **यह भी जगजाहिर है कि मौजूदा आन्दोलन की तमाम रैलियों व प्रदर्शनों में स्वयं धनी किसान व कुलक तो कम ही जाते हैं, लेकिन वे ग़रीब, निम्न मध्यम किसानों व खेत मज़दूरों को भेजने का प्रबन्ध कर देते हैं। यानी उनकी माँगों के लिए चल रहे आन्दोलन में भी लाठी खाने और जेल जाने का काम ग़रीब, निम्न मध्यम किसानों व खेत मज़दूरों को सौंप दिया जाता है।**

एक ओर गाँवों में धनी किसानों, सूदखोरों, आढ़तियों पर अपनी निर्भरता के कारण और दूसरी ओर अपनी स्वतंत्र वर्ग चेतना व वर्ग संगठन के अभाव में गाँव के सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा तथा ग़रीब व निम्न मध्यम किसान धनी किसानों और कुलकों की उन माँगों के लिए चल रहे आन्दोलन में जाते भी हैं, जोकि उनके ख़िलाफ़ जाते हैं। कुछ को यह ग़लतफ़हमी भी होती है कि यदि लाभकारी मूल्य बढ़ेगा तो उन्हें भी अपनी उपज का बेहतर दाम मिलेगा या बेहतर मज़दूरी मिलेगी, हालांकि आनुभविक तौर पर देखें तो ऐसा कोई 'ट्रिकल डाउन' होता नहीं है। यह भी नवउदारवादी 'ट्रिकल डाउन' सिद्धान्त का एक कुलक संस्करण मात्र ही है।

ऐसे में ज़रूरत यह है कि इन ग़रीब व निम्न मध्यम किसानों तथा खेत मज़दूरों को धनी किसानों व कुलकों के संगठनों के राजनीतिक नेतृत्व और प्रभाव से अलग किया जाय। उन्हें उनके वर्ग हितों के प्रति सचेत बनाना और उनके अलग वर्गीय संगठनों का निर्माण आज गाँवों में क्रान्तिकारी संगठन के कार्य की एक बुनियादी ज़रूरत है। उनकी मूल माँग रोज़गार की है और उन्हें रोज़गार गारण्टी के लिए ही लड़ना चाहिए। साथ ही, खेत मज़दूरों को न्यूनतम मज़दूरी, साप्ताहिक छुट्टी, आठ घण्टे के कार्यदिवस, दोगुनी दर से ओवरटाइम के भुगतान, ई.एस.आई.-पी.एफ. के अधिकारों के लिए संघर्ष करना चाहिए। गाँव के ग़रीबों की तात्कालिक माँगें आज यही बनती हैं।

न तो उनमें छोटी जोत की किसानी को बचाने का नारा दिया जा सकता है (जो कि उनका खून ही चूसती रहती है और देती कुछ नहीं है, बस लेती जाती है); यह एक प्रतिक्रियावादी रूमानी नारा होगा। जैसा कि लेनिन ने कहा था, कम्युनिस्टों को ग़रीब किसानों को सच बताना चाहिए न कि उन्हें किसी भ्रम में जीने का आदी बनाना चाहिए। चाहे कुछ भी कर लिया जाय, पूँजीवादी व्यवस्था के रहते छोटी जोत की खेती का कोई भविष्य नहीं है। कुछ आंकड़ों के आइने में इस सच्चाई को देखते हैं।

2001 से 2011 के बीच ही खेतिहर मज़दूरों की संख्या में भारत में 35 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। ये बढ़ोत्तरी मुख्यत: ग़रीब व निम्न मध्यम किसानों के तबाह होने से हुई, जो कि सतत् ऋणग्रस्तता में जीते हैं। आत्महत्याओं की दर भी इन्हीं ग़रीब किसानों में सबसे ज़्यादा है। **2001 से 2011 के बीच किसानों की संख्या में करीब 90 लाख की कमी आई थी।** निश्चित तौर पर, यह उसके बाद और भी तेज़ी से बढ़ी है क्योंकि कृषि संकट उसके बाद के दौर में गहराया ही है। **2011 में 26.3 करोड़ लोग खेती में लगे थे, जिनमें से आधे से भी ज़्यादा खेतिहर मज़दूर थे। किसानों की तादाद इसी दशक में 12.7 करोड़ से घटकर 11.8 करोड़ रह गयी थी।** इस किसान आबादी में भी 90 प्रतिशत परिधिगत, बेहद छोटे या छोटे किसान थे, जिनकी आजीविका का मुख्य आधार खेती नहीं रह गया है, बल्कि उजरती श्रम है।

यानी, मध्यम, उच्च मध्यम व धनी किसानों व कुलकों की आबादी आज मुश्किल से एक से डेढ़ करोड़ है, और यही आबादी है जो कि खेतिहर मज़दूरों का भूस्वामी के तौर पर, सूदखोर के तौर पर, पूँजीवादी

फार्मर के तौर पर और व्यापारी और आढ़तिये के तौर पर सबसे ज़्यादा शोषण और उत्पीड़न करती है और उनकी मज़दूरी और काम के हालात को बुरी से बुरी स्थिति में बनाये रखने के लिए हर सम्भव कोशिश करती है। और अब जबकि कारपोरेट पूँजी खेती के क्षेत्र में घुस रही है और ये ग्रामीण पूँजीपति वर्ग उससे प्रतिस्पर्द्धा में तबाह होने की सम्भावना से भयाक्रान्त है, तो सहसा वह "मज़दूर-किसान एकता" का राग गाने लगा है! इस पर सर्वहारा वर्ग और ग़रीब किसानों का जवाब होना चाहिए कि लाभकारी मूल्य की लड़ाई किसी भी रूप में उसके हक़ में नहीं ठहरती है और उसकी मूल माँग है रोज़गार गारण्टी, खेत मज़दूरों के लिए सभी श्रम अधिकार और धनी किसानों, व्यापारियों, आढ़तियों के क़र्ज़ से पूर्ण मुक्ति।

5. तीन कृषि अध्यादेशों के प्रावधानों में मज़दूरों और मेहनतकशों के ख़िलाफ़ क्या है?

तीन कृषि अध्यादेशों में जो प्रावधान विशिष्ट रूप में मज़दूरों के विरुद्ध जाता है वह है आवश्यक वस्तुओं के क़ानून में परिवर्तन। इस क़ानून के ज़रिये उन तमाम बुनियादी वस्तुओं की जमाखोरी, कालाबाज़ारी और उनकी क़ीमतों में कृत्रिम रूप से बढ़ोत्तरी करने की व्यापारिक पूँजी और दलाल बिचौलिये वर्ग की क्षमता बढ़ेगी। **व्यापारिक पूँजीपति वर्ग और साथ ही धनी किसान व कुलक वर्ग इन वस्तुओं की जमाखोरी कर कृत्रिम अभाव की स्थिति पैदा करेंगे और क़ीमतों को इस तरीक़े से बढ़ाकर अधिक मुनाफ़ा कमा सकते हैं।**

यह तीसरा अध्यादेश मज़दूरों और मेहनतकशों के सीधे ख़िलाफ़ जाता है और मज़दूरों और मेहनतकशों को अपने विरोध का निशाना मुख्यत: इस अध्यादेश पर रखना चाहिए। साथ ही, सरकार द्वारा सार्वजनिक वितरण प्रणाली को राज्य सरकारों के ज़िम्मे डालने के बहाने समाप्त करने की जारी साज़िश का आम मेहनतकश आबादी को विरोध करना चाहिए।

कुछ लोगों का दावा है कि यदि ए.पी.एम.सी. मण्डियों में व्यापार बन्द हो गया तो फिर इनमें काम करने वाले मज़दूरों की नौकरियाँ चली जायेंगी। **तात्कालिक तौर पर ऐसा हो भी सकता है, लेकिन यदि ए.पी.एम.सी. मण्डियों में व्यापार नहीं होगा, तो इसका यह अर्थ क़तई नहीं है कि अनाज व खेती के अन्य उत्पादों का व्यापार ही नहीं होगा। यह व्यापार जारी रहेगा और उसमें मज़दूरों की ज़रूरत भी बनी रहेगी। बस अन्तर यह होगा कि अब यह कार्यशक्ति ए.पी.एम.सी. मण्डियों में ठेकेदारों व आढ़तियों के मातहत काम नहीं करेगी, बल्कि बड़ी कारपोरेट पूँजी के अनाज प्राप्ति व ख़रीद की व्यवस्था में काम करेगी।**

क्या बड़ी कारपोरेट पूँजी के इस क्षेत्र में प्रवेश के साथ इसमें रोज़गार घटेंगे? यह भी कई कारकों पर निर्भर करता है। चूंकि आम तौर पर बड़ी कारेपोरेट पूँजी के किसी भी क्षेत्र में प्रवेश के साथ पूँजी का आवयविक संघटन बढ़ता है और प्रति इकाई रोज़गार घटता है, इसलिए कम-से-कम तात्कालिक तौर पर रोज़गार में कमी *आ भी* सकती है। लेकिन अगर उत्पादन और व्यापार विस्तारित होते हैं, तो वह बढ़ भी सकता है। **सिर्फ़ इस आधार पर कि इस क्षेत्र में बड़ी कारपोरेट पूँजी आयेगी और अपेक्षाकृत छोटी पूँजी प्रतिस्पर्द्धा में पराजित होगी, इसका विरोध करने का कोई अर्थ नहीं है। दूसरी बात, पूँजीवादी व्यवस्था के रहते इसके अलावा किसी और**

परिणाम की अपेक्षा करना और उसके प्रति लोगों में आशा पैदा करना प्रतिक्रियावादी और रूमानीवादी अवस्थिति है।

मज़ेदार बात यह है कि जो लोग ए.पी.एम.सी. मण्डियों के अप्रासंगिक होने के साथ यहाँ काम करने वाले मज़दूरों की नौकरियों के जाने की शंका से पेट में मरोड़ उठाए बैठे हैं, वे धनी किसानों और कुलकों के मंच पर जाकर 'ता-ता थैया' कर रहे हैं, जबकि ये धनी किसान और कुलक अपने मंचों पर इन मण्डियों को बचाए जाने को लेकर कोई ख़ास शोरगुल नहीं कर रहे हैं, *बल्कि यह कह रहे हैं कि यदि इन मण्डियों के बाहर व्यापार क्षेत्रों में व्यापार की इजाज़त दी जाती है, तो किसानों को लाभकारी मूल्य का क़ानूनी हक़ दिया जाय, जिससे कि कोई भी ख़रीदार चाहे कहीं भी कृषि उत्पाद ख़रीदे, लाभकारी मूल्य पर ही ख़रीदे।* **यानी इन धनी किसानों और कुलकों को ए.पी.एम.सी. मण्डियों में काम करने वाली मज़दूर आबादी की नौकरियों की चिन्ता नहीं है। उन्हें केवल लाभकारी मूल्य की चिन्ता है।**

हमें इन मज़दूरों के लिए भी रोज़गार गारण्टी और नियमितीकरण की माँग करनी चाहिए। ए.पी.एम.सी. मण्डियों और लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को बचाना अपने आप में हमारे लिए कोई कार्यभार नहीं है। हम इन मज़दूरों के लिए भी सरकार की ओर से रोज़गार गारण्टी की माँग करेंगे, न कि धनी किसानों व कुलकों के लिए लाभकारी मूल्य के तंत्र को बचाने की माँग, जो कि इन मज़दूरों के ही ख़िलाफ़ जाती है। और यदि धनी किसान, कुलक, सूदखोर और आढ़तिये ए.पी.एम.सी. मण्डियों को बचाने की बात करते हैं, तो हमें उनसे इसके समर्थन की पूर्वशर्त के तौर पर यह माँग करनी चाहिए कि इन मण्डियों में काम करने वाले सभी मज़दूरों को नियमित किया जाय, उन्हें सभी श्रम अधिकार दिये जायें, जैसे कि 8 घण्टे का कार्यदिवस, न्यूनतम मज़दूरी, इत्यादि। ज़ाहिर है, ये आढ़तिये, बिचौलिये और सूदखोर (जो अक्सर स्वयं धनी किसान या कुलक भी होते हैं!) इन मज़दूरों की इन माँगों की कोई चर्चा नहीं कर रहे हैं।

इसी से यह प्रश्न भी उठता है कि क्या धनी किसानों व कुलकों के आन्दोलन के मंच पर जाकर हम इन अध्यादेशों के उन प्रावधानों का कोई अर्थपूर्ण विरोध कर सकते हैं, जो कि व्यापक आम मेहनतकश जनता के ख़िलाफ़ जाते हैं?

6. क्या धनी किसानों-कुलकों के आन्दोलन के मंच से कृषि अध्यादेशों के जनविरोधी प्रावधानों का विरोध करना सम्भव है?

इसका सीधा जवाब है: नहीं! ऐसी कल्पना पालना भी मूर्खता की पराकाष्ठा है। जो आन्दोलन पूरी तरह से लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को क़ायम रखने पर केन्द्रित है, जो आन्दोलन पूरी तरह से धनी किसानों व कुलकों के राजनीतिक नेतृत्व की गिरफ़्त में है और जहाँ इस मूल माँग से इतर जाने का कोई विशेष स्पेस या स्कोप ही नहीं है, वहाँ आप उस असली प्रावधान के ख़िलाफ़ या तो बोल ही नहीं सकेंगे या फिर कुछ बोल पाये भी तो आपकी बात 'लाभकारी मूल्य बचाओ!' के शोर में कहीं सुनाई भी नहीं पड़ेगी।

दूसरी बात, यदि सर्वहारा शक्तियाँ इन मंचों पर जाती भी हैं तो उन्हें लाभकारी मूल्य के विरुद्ध भी बोलना ही होगा, जो कि सम्भव ही नहीं है। यदि कोई सर्वहारा संगठन इन मंचों पर जाता है और लाभकारी मूल्य की माँग के प्रतिक्रियावादी चरित्र पर चुप्पी साधे रहता है, तो यह सबसे घटिया क़िस्म का अवसरवाद और दक्षिणपन्थी भटकाव होगा। यह एक सस्ती लोकरंजकता होगी जो कि कुछ सैद्धान्तिक रूप से कमज़ोर और अवसरवादी कम्युनिस्टों को कहीं भी भीड़ देखने पर उसमें कूद पड़ने के लिए प्रेरित करती रहती है।

विशेष तौर पर, जो कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी मानते हैं कि भारत एक पूँजीवादी देश है और समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में है, उन्हें तो क़तई ऐसे मंचों पर पिछलग्गू बनने का विरोध करना चाहिए। यहाँ तक कि नवजनवादी क्रान्ति की मंज़िल मानने वाले कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का भी ऐसे मंच पर जाने का कोई अर्थ नहीं बनता है। लेकिन जो समाजवादी क्रान्ति मानते हैं उनके लिए तो यह एक़दम ही बेतुका है।

सच्चाई यह है कि इन मंचों पर न तो धनी किसान व कुलक नेता ए.पी.एम.सी. मण्डियों को अलग से बचाने की माँग कर रहे हैं और न ही उनका कोई विशेष ज़ोर आवश्यक वस्तुओं की स्टॉकिंग के विनियमन को ख़त्म करने से है। ए.पी.एम.सी. मण्डियों को बचाने की माँग सिर्फ़ इस नज़रिये से है कि वह लाभकारी मूल्य को सुनिश्चित करतीं हैं और यदि सरकार लाभकारी मूल्य का क़ानून बनाने को तैयार हो तो वे इन ए.पी.एम.सी. मण्डियों को बचाने की माँग को तिलांजलि देने को भी तैयार हैं, जैसा कि अखिल भारतीय किसान सभा के विजू कृष्णन ने साफ़ शब्दों में बता दिया! **यानी यदि कोई भी निजी ख़रीदार कहीं पर भी खेती उत्पाद की ख़रीद कम-से-कम लाभकारी मूल्य पर करे, तो ए.पी.एम.सी. मण्डियाँ भाड़ में जायें! साथ ही ये धनी किसान और कुलक आवश्यक वस्तुओं सम्बन्धी क़ानून में बदलाव पर भी ज़्यादा ज़ोर से नहीं बोल रहे हैं, क्योंकि उससे इन्हें कोई ख़ास नुक़सान नहीं है, उल्टे फ़ायदा ज़रूर हो सकता है।**

ऐसे मंच पर जहाँ इन धनी किसानों और कुलकों की माँगों का ही शोर मचा हुआ हो, जो पूरी तरह उनके नेतृत्व में हों और जहाँ भीड़ भी उनकी व उनके पिछलग्गुओं की हो, वहाँ पर कोई भी सर्वहारा शक्ति न तो आम मेहनतकश आबादी को प्रभावित करने वाले प्रावधानों का कोई प्रभावी व अर्थपूर्ण विरोध कर सकती है और न ही वह ग़रीब किसानों, निम्न मध्यम किसानों तथा खेत मज़दूरों को धनी किसानों व कुलकों के राजनीतिक नेतृत्व से आज़ाद करा सकती है। **जो ऐसी बातें बोलकर इन मंचों पर जाकर धनी किसानों व कुलकों के सामने साष्टांग दण्डवत हो रहा है, वह न केवल एक निकृष्ट कोटि का अवसरवादी, लोकरंजकतावादी और दक्षिणपन्थी भटकाव का शिकार है बल्कि वह एक और भयंकर अपराध कर रहा है।**

यह अपराध यह है कि ऐसे तथाकथित "मार्क्सवादी" (असल में क़ौमवादी और नरोदवादी) ग़रीब किसानों और मज़दूर वर्ग को भी ग्रामीण व खेतिहर बुर्जुआज़ी का पिछलग्गू बनाने का काम करते हैं। ऐसे कुछ अनपढ़ "मार्क्सवादी" आजकल भी इन धनी किसानों व कुलकों के प्रदर्शनों में किसानों की वेशभूषा धरे पहुँच रहे हैं और वहाँ पर उनके राजनीतिक नेतृत्व की पूंछ में कंघी करने में व्यस्त हैं। अफ़सोस की बात यह है कि ये अनपढ़ "मार्क्सवादी" पहले इन मंचों पर जाने और धनी किसानों व कुलकों का पिछलग्गू बनने को सरासर ग़लत मानते थे। **लेकिन हाल ही में ये बुण्डवादी राष्ट्रवाद और साथ ही त्रॉत्स्कीपन्थ के शिकार हो गये हैं। बहसों से पलायन और राजनीतिक-विचारधारात्मक कमज़ोरी के**

कारण ये ट्रॉट-बुण्डवादी अब लोकरंजकतावाद और किसानवाद की ओर एक क्रमिक प्रक्रिया में संक्रमण कर रहे हैं जिसकी रफ़्तार दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। बुण्डवादी राष्ट्रवाद से नरोदवाद और किसानवाद की तरफ़ एक सीधा राजमार्ग जाता है। अगर ये अनपढ़ "मार्क्सवादी" व ट्रॉट-बुण्डवादी लोकरंजकतावाद, किसानवाद और नरोदवाद की ओर क़दम बढ़ा रहे हैं तो इसमें कोई ताज्जुब की बात भी नहीं है। **हर भटकाव की अपनी एक स्वतंत्र गति होती है और एक दफ़ा पैदा हो गया तो वह अपने वाहक की इच्छा से स्वतंत्र उसे उसके राजनीतिक निर्वाण पर पहुँचा देता है। ऐसे भटकावों को पैबन्दसाज़ी करके चोरी से ठीक कर लेने का कोई रास्ता नहीं होता है।** ऐसी ताक़तों को आज बेनक़ाब करने की बेहद ज़रूरत है क्योंकि ये सर्वहारा वर्गीय आन्दोलन की राजनीतिक स्वतंत्रता को तबाह कर रहे हैं और उसे अपने वर्गशत्रुओं की राजनीति का पुछल्ला बना रहे हैं। **ऐसी ख़तरनाक कार्यदिशाओं को पराजित करके और कुचलकर ही मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति आगे बढ़ती है और आज भी इन कार्यदिशाओं की निर्मम आलोचना पेश करना और उन्हें क्रान्तिकारी खेमे और मज़दूर वर्ग व ग़रीब किसानों में बेनक़ाब करना एक अहम कार्यभार है।**

ये ट्रॉट-बुण्डवादी शक्तियाँ अभी एक शर्मनाक स्थिति में फंस गयी हैं। अब ये सीधे लाभकारी मूल्य का समर्थन तो कर नहीं सकती हैं क्योंकि पिछले पन्द्रह साल से पंजाब में ये इसी के ख़िलाफ़ बोलती आयी हैं और अगर अब ये समर्थन करेंगी तो इनका बड़ा मखौल बनेगा। लेकिन साथ ही ये इन धनी किसानों व कुलकों के आन्दोलन के मंच पर लाभकारी मूल्य की माँग के प्रतिक्रियावादी चरित्र पर भी नहीं बोल सकती हैं, क्योंकि फिर इनकी ही क़ौम की ग्रामीण बुर्जुआज़ी (जो कि पूरे पूँजीपति वर्ग में छोटी या मंझोली बुर्जुआज़ी का ही स्थान रखती है और इन ट्रॉट-बुण्डवादियों के अनुसार "दमित" है!) इन्हें अपने मंच से पर्याप्त सेवा-सत्कार करने के बाद उठाकर नीचे फेंक देगी!

इसलिए इन्होंने धनी किसानों व कुलकों के इस मंच पर पुछल्ले की भूमिका में जगह पाने का एक नया तरीक़ा निकाला है। **इन्होंने इन कृषि अध्यादेशों का पूरा मसला प्रान्तों के संघीय अधिकारों पर हमले का मसला बना दिया है। यानी इन तीन कृषि अध्यादेशों का विरोध करने में ये संघवाद पर हो रहे हमले पर ज़्यादा बोल रहे हैं। तो आइये देखते हैं कि संघवाद पर और प्रान्तों के संघीय अधिकारों पर सर्वहारा वर्ग का नज़रिया क्या होना चाहिए।**

7. क्या मज़दूर वर्ग और उसका हिरावल प्रान्तों के संघीय अधिकारों का निरपेक्ष समर्थन कर सकते हैं?

इस सवाल का भी सीधा जवाब है: नहीं!! मज़दूर वर्ग प्रान्तों के संघीय अधिकारों और संघवाद का समर्थन बिना शर्त नहीं करता है और न ही कर सकता है। संघवाद और प्रान्तों के संघीय अधिकारों का पूँजीवादी व्यवस्था के मातहत निरपेक्ष समर्थन करना क्षेत्रीय पूँजीपति वर्ग की माँग है, न कि सर्वहारा वर्ग की माँग।

सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी व्यवस्था के मातहत निरपेक्ष तौर पर एक ऐसे केन्द्रीयतावाद की माँग करता है जो कि जनवादी हो तानाशाहाना नहीं। यदि ऐसा केन्द्रीयतावाद मौजूद नहीं होता है जो कि सच्चे मायने में जनवादी हो, यानी जिसमें हर प्रान्त को पूर्णत: स्थानीय महत्व के मसलों पर निर्णय लेने का अधिकार हो, तो भी सर्वहारा वर्ग संघवाद की माँग नहीं करता है, बल्कि उस केन्द्रीयता को जनवादी बनाने के लिए लड़ता है। पूँजीवादी व्यवस्था में अपने आप में संघवाद की माँग करना सर्वहारा वर्ग के बीच दीवारें खड़ी करता है, आम तौर पर पूँजीवाद के विकास को अवरुद्ध करता है और प्रतिक्रियावादी क्षेत्रीय पूँजीपति वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता है। यह लेनिन द्वारा संघवाद पर स्थापित सही सर्वहारा अवस्थिति है। समाजवादी व्यवस्था आने पर भी संघवाद सर्वहारा वर्ग का सकारात्मक प्रस्ताव नहीं होता है, बल्कि एक संक्रमणशील स्थिति में उठाया गया मध्यवर्ती क़दम होता है बशर्ते कि सभी संघटक कौमें यूनियन के लिए तैयार न हों, और यदि यह संघात्मकता समाजवाद में बची भी रहती है, तो उसका स्वरूप पूँजीवाद में क्षेत्रीय पूँजीपति वर्ग की स्वायत्तता को सुनिश्चित करने वाले प्रतिक्रियावादी संघवाद से बिल्कुल अलग होता है और उसका चरित्र अधिक से अधिक जनवादी केन्द्रीयता का होता जाता है, जैसा कि सोवियत संघ में हुआ भी था।

लुब्बेलुबाब यह कि पूँजीवादी व्यवस्था के मातहत सर्वहारा वर्ग संघीय ढाँचे के लिए अपने पेट में दर्द नहीं पैदा करता है और न ही अलग-अलग मुद्दों पर वह प्रान्तों के संघीय अधिकारों के उल्लंघन का बिना शर्त विरोध करता है। ऐसे में, प्रान्तों के संघीय अधिकारों के प्रति आज यानी पूँजीवादी व्यवस्था के मातहत मज़दूर वर्ग का क्रान्तिकारी रवैया क्या होना चाहिए?

हमें केवल उन स्थितियों में प्रान्तों के संघीय अधिकारों के उल्लंघन का विरोध करना चाहिए जिन स्थितियों में ये उल्लंघन मज़दूर वर्ग व अर्द्धसर्वहारा वर्ग के वर्गीय हितों को नुक़सान पहुँचाते हैं। इन मामलों में भी हमारे विरोध का प्रस्थान-बिन्दु संघवाद की रक्षा नहीं होती है बल्कि सर्वहारा वर्ग व अर्द्धसर्वहारा वर्ग के हितों की हिफ़ाज़त होती है। ऐसे मौक़ों पर भी हम क्षेत्रीय मंझोली व छोटी बुर्जुआज़ी द्वारा उसके संघीय अधिकारों को छीने जाने के शोर में खंजड़ी बजाने का काम नहीं करते हैं, जैसा कि आज पंजाब में कुछ ट्रॉट-बुण्डवादी, राष्ट्रवादी और अस्मितावादी तथाकथित "मार्क्सवादी" कर रहे हैं। हम सकारात्मक तौर पर उन मज़दूर वर्गीय हितों व अर्द्धसर्वहारावर्गीय हितों पर हमले की बात करते हैं और इसके लिए संघवाद के बुर्जुआ नारे के छाते की नीचे जाने की हमें कोई आवश्यकता नहीं है।

लुब्बेलुबाब यह कि प्रान्तों के संघीय अधिकारों और संघवाद का उल्लंघन हमारे लिए कोई निरपेक्ष प्रश्न नहीं है, बल्कि इस प्रश्न को हम मज़दूर वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग के हितों की सेवा के मातहत रखते हैं। यदि कहीं पर कोई राज्य सरकार राज्य सूची में आने वाले किसी मसले पर व्यापक मज़दूर व मेहनतकश जनता के हितों के ख़िलाफ़ कोई क़ानून बनाये और कोई केन्द्र सरकार बुर्जुआज़ी के आपसी अन्तरविरोध के चलते उसे रद्द कर दे तो क्या हम सर्वहारा क्रान्तिकारी उसका विरोध करेंगे? आइये इसे एक मिसाल से समझते हैं, ताकि इन क़ौमवादी ट्रॉट-बुण्डवादियों की आँखों पर पड़ा पर्दा हट सके, हालांकि ऐसी उम्मीद करना भी आकाश-कुसुम की अभिलाषा करने के समान है क्योंकि इन ट्रॉट-बुण्डवादियों के नेतृत्व की मूर्खता कई मामलों में अद्वितीय और अभूतपूर्व है। लेकिन फिर भी इस मिसाल पर ग़ौर करने से प्रान्तों के संघीय अधिकार के प्रश्न पर सर्वहारा वर्गीय स्थिति काफ़ी हद तक ख़ुद ही साफ़ हो जाती है।

उत्तर प्रदेश के फ़ासीवादी मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ ने अभी 'उत्तर प्रदेश विशेष सुरक्षा बल' नामक एक बल का निर्माण किया है। इस बल को क़ानूनी तौर पर किसी को भी शक़ की बिना पर गिरफ़्तार करने, छह माह तक अदालत में पेश किये बिना हिरासत में रखने, तलाशी लेने आदि का पूरा अधिकार है। दूसरे शब्दों में, योगी आदित्यनाथ उत्तर प्रदेश में हिटलर के गेस्टापो जैसी एक शक्ति बना रहा है क्योंकि उसे पता है कि मज़दूरों और युवाओं में बेरोज़गारी और महँगाई के कारण असन्तोष चरम पर है और उनके बीच कोई राजनीतिक नेतृत्व न जा पाये या न पैदा हो पाये, इसलिए उसे पैदा होने से पहले ही ख़त्म करने के लिए एक ऐसे क़ानून की ज़रूरत है। ऐसे क़ानून अन्य राज्यों ने पहले भी बनाये हैं जैसे कि महाराष्ट्र में मकोका। ख़ुद पंजाब में भी प्रान्तीय सरकारों ने अलग-अलग समय पर ऐसे काले क़ानून बनाये हैं। ऐसे दमनकारी काले क़ानून बनाना किसी भी राज्य सरकार के अधिकार क्षेत्र में आता है। **अब ज़रा फर्ज़ कीजिए: किसी विशिष्ट सन्धि-बिन्दु पर कोई केन्द्र सरकार राज्य सरकार में मौजूद पार्टी के साथ राजनीतिक अन्तरविरोध के कारण या बुर्जुआज़ी के आपसी अन्तरविरोधों के कारण इस क़ानून को भंग कर दे, तो सर्वहारा शक्तियों का इस पर क्या स्टैण्ड होना चाहिए? क्या तब भी हम प्रान्त के संघीय अधिकार के इस उल्लंघन का विरोध करेंगे? ज़ाहिरा तौर पर नहीं! क्योंकि यहाँ पर प्रान्त सरकार द्वारा बनाये गए क़ानून व्यापक मेहनतकश जनता के वर्ग हितों के ख़िलाफ़ जाते हैं। संक्षेप में कहें तो हम प्रान्तों के संघीय अधिकारों को कोई पवित्र वस्तु नहीं मानते हैं जिनका उल्लंघन होने पर हम सड़कों पर उतर जायें। हमें हर मसले में यह देखना होता है कि सर्वहारा वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग समेत आम ग़रीब मेहनतकश जनता के हक़ और हित क्या हैं और उन पर क्या प्रभाव पड़ता है। निरपेक्ष रूप से प्रान्तीय संघीय अधिकारों के उल्लंघन पर शोर-गुल मचाना एक कम्युनिस्ट अवस्थिति नहीं है, बल्कि एक टटपुँजिया लोकरंजकतावादी और क़ौमवादी अवस्थिति है, जो कि क्षेत्रीय पूँजीपति वर्ग के हितों की सेवा करती है न कि सर्वहारा वर्ग के हितों की।**

प्रान्तों के संघीय अधिकारों को लेकर विक्षिप्त शोर मचा रहे इन ट्रॉट-बुण्डवादी मूर्खों को चलते-चलते यह भी बता दें कि बिहार की प्रान्त सरकार ने ही 2006 में अपने प्रदेश में ए.पी.एम.सी. क़ानून को रद्द कर दिया था। इसी प्रकार महाराष्ट्र की प्रान्त सरकार ने ही 2018 में अपने प्रान्त के ए.पी.एम.सी. क़ानून में ठीक वे ही परिवर्तन किये थे, जो कि आज मोदी सरकार के पहले कृषि अध्यादेश द्वारा किये जा रहे हैं। अब अगर इन अनपढ़ "मार्क्सवादियों" का संघवाद के प्रति दीवानापन निरन्तरतापूर्ण है, तो उन्हें इन प्रान्त सरकारों के इन क़दमों का भी स्वागत करना चाहिए, क्योंकि जो भी संघीय अधिकार और संघवाद के तहत हो रहा है, वह दुरुस्त है! **यह है इन अनपढ़ों की समस्या। ये अपने क़ौमवाद और अस्मितावाद में अन्धे होकर बुनियादी वर्ग विश्लेषण भी भूल चुके हैं, हालांकि वे इसमें कभी भी बहुत निपुण नहीं थे। ये अपने ही कुतर्कों के विरोधाभासों में आए दिन नटखट मूर्ख बिल्ले के समान फंसे हुए नज़र आते हैं, जो ऊन के गोले में उलझ जाता है, और फिर बेशर्म तरीक़े से बातों को बदलने के उपक्रम में लग जाते हैं।**

इसलिए असल बात जिसे समझा जाना चाहिए वह यह है कि सर्वहारा वर्ग अपने आप में प्रान्तों के संघीय अधिकार के शोरगुल में शामिल नहीं होता है और हरेक मसले पर अपने वर्ग हितों के नज़रिये से विचार करता है। जिन स्थितियों में प्रान्तों के संघीय अधिकारों का उल्लंघन सर्वहारा वर्ग के ख़िलाफ़ भी जाता है, वहाँ हम संघवाद के निरपेक्ष समर्थन की ज़मीन से उसकी मुख़ालफ़त नहीं करते, बल्कि सकारात्मक तौर पर सर्वहारा वर्ग और

अर्द्धसर्वहारा वर्ग के हितों की हिफ़ाज़त की ज़मीन से जनवाद की माँग करते हैं और उनके जनवादी व नागरिक अधिकारों के उल्लंघन का विरोध करते हैं।

हमारे ट्रॉट-बुण्डवादियों की समझ में यह सीधी-सी बात नहीं आ रही है। **अब चूंकि विचारधारात्मक व राजनीतिक दीवालियापन ने उनकी स्थिति को ख़राब कर दिया है, तो पंजाब के भीतर उनके लिए अपने कार्यक्रम और रणनीतिक अवस्थिति को तिलांजलि देकर नरोदवादियों की जुटान के पीछे पूंछ पकड़कर चलना एक मजबूरी हो गया है। लेकिन ऐसा करते हुए वह मौजूदा किसान आन्दोलन में लाभकारी मूल्य का समर्थन भी नहीं कर सकते और विरोध भी नहीं कर सकते। समर्थन करेंगे तो पंजाब के आन्दोलन में इनका मखौल बन जायेगा और विरोध करेंगे तो धनी किसानों और कुलकों के आन्दोलन के मंच पर इन्हें जगह मिलनी तो दूर, इनकी दूसरे प्रकार से आवभगत भी हो सकती है! लेकिन इन्हें अब इन मंचों का सहारा भी चाहिए और इनका पिछलग्गू बनना भी इनके लिए ज़रूरी हो गया है। तो इन्होंने एक मूर्खतापूर्ण तरीक़ा निकाला है इन मंचों पर जगह पाने का: लाभकारी मूल्य पर चुप्पी बनाये रखते हुए, केवल प्रान्तों के संघीय अधिकारों पर हमले का विरोध करने के नाम पर इन कृषि अध्यादेशों का विरोध करो और किसी तरह इन मंचों के कोने में थोड़ी-सी जगह पा लो**!

इन ट्रॉट-बुण्डवादियों ने एक और मज़ाक़िया दलील पेश की। अब चूंकि इन्हें धनी किसानों व कुलकों के मंच पर जाकर पुछल्लावाद करना था, इसलिए इन्हें अपने इस अवसरवाद का औचित्य-प्रतिपादन भी करना था। इसके लिए इन्होंने आँखें चुंधिया देने वाला एक चमत्कारी तर्क दिया! **इन्होंने कहा कि ये भारतीय किसान यूनियन के मंच पर जाकर धनी किसानों और कुलकों के राजनीतिक नेतृत्व से ग़रीब किसानों और खेतिहर सर्वहारा को मुक्त करेंगे और बतायेंगे कि उनके वर्ग हित धनी किसानों व कुलकों से अलग हैं और यह कि उन्हें लाभकारी मूल्य की लड़ाई में धनी किसानों व कुलकों का साथ नहीं देना चाहिए! वाह! ऐसी तर्कपद्धति पर हम वारे जायें! यह वैसा ही है जैसे कि आप कारसेवकों के प्रदर्शन के मंच पर जाकर उन्हें मन्दिर निर्माण के विरुद्ध सहमत करने का दावा करें।**

यानी कि आप धनी किसानों व कुलकों की अगुवाई करने वाले भारतीय किसान यूनियन के विभिन्न धड़ों के संयुक्त मोर्चे के प्रदर्शन में उन्हीं की गोद में बैठकर ग़रीब किसानों और खेत मज़दूरों को यह बताने का दावा कर रहे हैं कि उनके हित धनी किसानों व कुलकों के विरुद्ध हैं?! क्या मज़ाक़ है! सच्चाई यह है कि आप उस मंच पर जाकर क्षेत्रीय बुर्जुआज़ी के संघवाद के नारे की पूंछ पकड़कर लटके हुए थे और लाभकारी मूल्य की माँग के प्रतिक्रियावादी चरित्र के बारे में आपने ग़रीब व निम्न मध्यम किसानों को स्पष्ट शब्दों में यह नहीं बताया कि यह माँग किसानों की 90 फीसदी आबादी के ख़िलाफ़ जाती है, यह पूरे मज़दूर वर्ग के ख़िलाफ़ जाती है, यह समूची आम मेहनतकश आबादी के ख़िलाफ़ जाती है और यह मूलत: ग्रामीण पूँजीपति वर्ग की माँग है। धनी किसानों के इस मंच पर चल रही फिल्म में इन ट्रॉट-बुण्डवादियों को जो भूमिका मिली थी, वह वही थी जिसमें वे संघवाद का राग गाते हुए पल भर को पीछे भीड़ में खड़े दिखाई पड़ते हैं!

यह और कुछ नहीं बल्कि इन ट्रॉट-बुण्डवादी क़ौमवादियों का एक शर्मनाक अवसरवाद, लोकरंजकतावाद और दक्षिणपन्थी भटकाव है जो कि मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसान वर्ग के बीच विभ्रम फैलायेगा, उन्हें धनी किसानों व कुलकों का पुछल्ला बनायेगा और एक स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति

के तौर पर उन्हें संगठित नहीं होने देगा। इस रूप में यह रुझान आज पंजाब के आन्दोलन को काफ़ी नुक़सान पहुँचा रही है, क्योंकि कम-से-कम औपचारिक तौर पर इस रुझान को मानने वाले अभी भी समाजवादी क्रान्ति की बात करते हैं, हालांकि बिल्कुल त्रॉत्स्कीपन्थी तरीक़े से क्योंकि इनके अनुसार पंजाब एक दमित क़ौम है और वहाँ क्रान्ति की मंज़िल सीधे समाजवादी है! इनकी इस पूरी अवस्थिति की आलोचना आप यहाँ पढ़ सकते हैं:

http://ahwanmag.com/archives/7567

इसी उपक्रम में इन ट्रॉट-बुण्डवादी क़ौमवादियों ने एक और मज़ाक़िया बात कही है। इनका कहना है कि 'एक देश-एक बाज़ार' बनाने का मोदी सरकार का नारा दरअसल कौमों को कुचलकर एक एकीकृत हिन्दू राष्ट्र का निर्माण करने की साज़िश है! इससे ज़्यादा मूर्खतापूर्ण बातें कुछ ही हो सकती हैं, और वे बातें भी हमारे ये क़ौमवादी ही बोल रहे हैं। असल में इन ट्रॉट-बुण्डवादियों के दिमाग़ में मार्क्सवाद तो बचा नहीं, बस टटपुँजिया क़ौमवाद बचा है, तो इन्हें हर प्रकार का दमन या उत्पीड़न या शोषण क़ौमी दमन और संघवाद का उल्लंघन नज़र आता है। बड़ी दयनीय स्थिति है बेचारों की!

पहली बात तो यह है कि खेती के उत्पादों के एकीकृत बाज़ार का कार्यक्रम भारत के पूँजीपति वर्ग का पुराना कार्यक्रम है और कांग्रेस की सरकारों ने भी इस मसले को कई बार उठाया था। दूसरी बात, यदि कोई कम्युनिस्ट भूले से संघवाद के क्षेत्रीय बुर्जुआज़ी के सिद्धान्त के गड्ढे में भी गिर जाता है, तो किसी एक राज्यसत्ता के मातहत आर्थिक अर्थों में विघटन और बिखराव का वह समर्थन नहीं करता है क्योंकि यह सर्वहारा वर्ग के हितों के भी ख़िलाफ़ जाता है। यह बात दीगर है कि खेती के उत्पादों के बाज़ार का यह समेकन आज नवउदारवादी भूमण्डलीकरण की नीतियों के मातहत हो रहा है, न कि किसी राष्ट्रीय साम्राज्यवाद-विरोधी कार्यक्रम के मातहत। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि कम्युनिस्टों का यह नारा हो कि खेती के उत्पादों के लिए एक देश, बहुत से बाज़ार! यह एक मज़दूर-वर्ग के ख़िलाफ़ जाने वाला नारा है क्योंकि यदि बाज़ार में पूँजी के मुक्त प्रवाह को रोकने वाली बाधाएं या इम्पर्फेक्शंस मौजूद हैं, तो वह पूँजीवाद के विकास को भी बाधित करते हैं, असमान विकास को बढ़ावा देते हैं और श्रम की आवाजाही को भी बाधित करते हैं और इस रूप में प्रतिक्रियावादी होते हैं। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार का मज़ाक़िया तर्क देकर भी इन अध्यादेशों का सर्वहारावर्गीय विरोध नहीं किया जा सकता है। इसके अलावा, ऐसे तर्क यही दिखलाते हैं कि इन ट्रॉट-बुण्डवादियों को मार्क्सवाद का 'क ख ग' भी नहीं आता है। मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों की इनकी "समझदारी" के बारे में जानने के लिए आप इन लिंक्स पर जा सकते हैं:

http://ahwanmag.com/archives/7585

http://ahwanmag.com/archives/7590

लुब्बेलुबाब यह कि इन कृषि अध्यादेशों का विरोध करने में प्रान्तों के संघीय अधिकारों के हिफ़ाज़त की अवस्थिति अपनाना या एकीकृत बाज़ार का टटपुँजिया विरोध करना नरोदवादियों, क़ौमवादियों और अवसरवादियों का नज़रिया है, न कि कोई सर्वहारा नज़रिया।

इससे जुड़ी हुई बात ही यह है कि हमारे ट्रॉट-बुण्डवादी इन अध्यादेशों के मसले को क़ौमी दमन का मसला बनाकर पेश कर रहे हैं! इससे भयंकर हास्यास्पद बात और कुछ नहीं हो सकती। इनका मानना है कि इन अध्यादेशों के ज़रिये क़ौमों की स्वायत्तता को छीना जा रहा है और इनके अनुसार लेनिन एक राज्य के मातहत क़ौमों की स्वायत्तता की हिमायत करते थे और इस स्वायत्तता की हिमायत किये बिना, राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार की बात करना बेमानी है! यह पूरी कार्यदिशा भयंकर क़ौमवादी है और इसका लेनिन की समझदारी से कोई लेना-देना नहीं है। **यदि पंजाब दमित राष्ट्र है, तो लेनिनवादी कार्यदिशा उसके लिए स्वायत्तता का कार्यक्रम नहीं पेश करती है, बल्कि अलग राष्ट्र-राज्य के निर्माण का कार्यक्रम पेश करती है।** पंजाब को दमित क़ौम मानने के बावजूद इन ट्रॉट-बुण्डवादियों द्वारा महज़ स्वायत्तता और संघीय अधिकारों की बात करना सीधे-सीधे ऑस्ट्रो-मार्क्सवाद व बुण्डवाद के गड्ढे में गिरना है, जिसमें कि हमारे ट्रॉट-बुण्डवादी पहले से ही गिरे हुए हैं। **लेकिन सबसे भयंकर अपराध तो यह है कि क़ौमी सवाल पर एक सुधारवादी कार्यदिशा को ये लेनिन पर आरोपित करने का प्रयास कर रहे हैं। यदि हमारे ट्रॉट-बुण्डवादी पंजाब को एक दमित क़ौम मानते हैं और इन अध्यादेशों को भी क़ौमी दमन का हथियार मानते हैं, और लेनिन के अनुयायी होने का भी दावा करते हैं, तो इन्हें पंजाब में सीधे अलग होने या न होने के सवाल पर रेफ़रेण्डम की माँग उठानी चाहिए, न कि इसी राज्य के मातहत रहते हुए महज़ संघीय अधिकारों और स्वायत्ता की।** लेकिन इन बेचारों में इतना साहस भी नहीं है कि यह माँग उठा सकें और इन्होंने साज़िशाना तरीक़े से आत्मनिर्णय के पूरे अधिकार को संघवाद और स्वायत्ता के अधिकार में अपचयित कर दिया है। इनकी ये लफ़्फ़ाज़ियाँ अब बेईमानी के स्तर पर जा रही हैं।

शुद्धत: स्थानीय मसलों में क़ौमों की स्वायत्तता का कार्यक्रम केवल तभी लागू होता है, जब कई क़ौमें आपसी सहमति से एक राज्य के मातहत रहने का फ़ैसला करती हैं। इस सूरत में भी लेनिन संघवाद की सख़्त शब्दों में मनाही करते हैं और एक जनवादी केन्द्रीयता के ढाँचे की हिमायत करते हैं। **लेकिन इन ट्रॉट-बुण्डवादियों के अनुसार तो भारत में सभी क़ौमें दमित हैं, जिन्हें एक ऐसी बड़ी बुर्जुआज़ी दबा रही है, जो कि कोई भी क़ौमी पहचान नहीं रखती है (चाहे एक-क़ौमी पहचान या बहु-क़ौमी पहचान!)। ऐसे में, ये दमित क़ौमें अपनी इच्छा से भारत की राज्यसत्ता के मातहत नहीं मानी जायेंगी, और ठीक इसीलिए वे दमित क़ौमें कही जा सकती हैं। लेकिन यदि वे अपनी इच्छा के विरुद्ध भारत की राज्यसत्ता की राजनीतिक सीमाओं में शामिल की गयी हैं, तो उनके लिए लेनिनवादी कार्यक्रम स्वायत्तता व संघवाद के अधिकार की माँग उठाने का नहीं होता, जो कि लेनिन की दृष्टि में क़ौमी सवाल पर अक्षम्य सुधारवाद है, बल्कि अलग होने के अधिकार का होता है।**

अब अलग होने के अधिकार की माँग उठाने की हिम्मत हमारे ट्रॉट-बुण्डवादियों में है नहीं! लेकिन क़ौमी दमन को भी उन्हें किसी भी क़ीमत पर और हर मसले पर साबित करना है! ऊपर से वह लाभकारी मूल्य का न तो विरोध कर सकते हैं (क्योंकि फिर इनकी ख़ुद की क़ौमी खेतिहर बुर्जुआज़ी से इन्हें थप्पड़ पड़ेंगे) और न ही लाभकारी मूल्य का विरोध कर सकते हैं (क्योंकि तब पंजाब के आन्दोलन में ये हंसी के पात्र बन जायेंगे!)। इस असमाधेय विरोधाभास में पड़े हमारे ट्रॉट-बुण्डवादियों ने इस उलझन से निकलने का नायाब तरीक़ा यह निकाला कि कृषि अध्यादेशों को ही क़ौमी दमन कह दिया जाय! लेकिन जब आप इस प्रकार के द्रविड़ प्राणायाम करते हैं, तो आप और भी ज़्यादा हास्यास्पद और अटपटे तरीक़े

से अपने विरोधाभासों में उलझ जाते हैं। बस अफ़सोस यह है कि इस प्रक्रिया में ये ट्रॉट-बुण्डवादी मार्क्सवाद-लेनिनवाद के साथ बहुत ज़्यादती करते हैं और आम लोगों में इसके प्रति ग़लत सूचनाएँ और विचार फैलाते हैं। लेकिन ट्रॉट-बुण्डवादियों ने तो मार्क्सवाद-लेनिनवाद को विकृत करना आजकल अपना मुख्य पेशा बना लिया है।

ग़ौरतलब है कि स्वयं पंजाब की ग़ैर-खेतिहर बुर्जुआज़ी इन अध्यादेशों का एक स्वर में विरोध नहीं कर रही है, न ही सभी क़ौमों की खेतिहर बुर्जुआज़ी इसका विरोध कर रही है। उल्टे भारत के राज्य के मातहत रहने वाली समस्त ग़ैर-दमित क़ौमों, यानी जिनकी बुर्जुआज़ी को भारतीय राज्यसत्ता में हिस्सेदारी हासिल हो चुकी है, की बड़ी वित्तीय-औद्योगिक बुर्जुआज़ी एकमत से इन अध्यादेशों के समर्थन में है, क्योंकि यह उनके हित में है। इसके अतिरिक्त, स्वयं कई क़ौमों की खेतिहर बुर्जुआज़ी इन अध्यादेशों का एक स्वर में विरोध भी नहीं कर रही है। मसलन, महाराष्ट्र के धनी किसानों व कुलकों के अधिकांश प्रमुख संगठनों ने इन अध्यादेशों का स्वागत किया है। तमिलनाडु व आन्ध्रप्रदेश में भी स्वयं खेतिहर बुर्जुआज़ी के बीच इन अध्यादेशों के विरोध के कार्यक्रम की कोई व्यापक अपील विकसित नहीं हो पायी। उसी प्रकार अन्य कई क़ौमों की बुर्जुआज़ी ए.पी.एम.सी. की व्यवस्था को पहले ही भंग कर चुकी थी या उसे निष्प्रभावी बना चुकी थी। यह उन्होंने अपनी स्वायत्तता का उपयोग करते हुए ही किया, इसलिए इन क़ौमवादियों को इसका स्वागत करना चाहिए था! फ़र्ज़ करिए कि कुछ अन्य कौमों की बुर्जुआज़ी के ही समान (मसलन, महाराष्ट्र की बुर्जुआज़ी) पंजाब में भी ए.पी.एम.सी. व सुनिश्चित लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को स्वयं पंजाब सरकार भंग करती या निष्प्रभावी बना देती, तो क्या वह क़ौमी दमन माना जाता? लेकिन एक स्थान पर वे इसे क़ौम की आज़ादी पर हमला बता रहे हैं, तो दूसरी जगह वे इस पर चुप्पी साधे हुए हैं। यदि यह क़ौमी दमन का मसला है, तब तो इन ट्रॉट-बुण्डवादियों को मानना पड़ेगा कि इस मसले पर केवल पंजाब का ही क़ौमी दमन हो रहा है क्योंकि हरियाणा अलग से कोई क़ौम नहीं है! इनके विचारों व दावों को यदि तार्किक परिणति पर पहुँचाया जाये तो हास्यास्पद नतीजों का ढेर लग जाता है!

ट्रॉट-बुण्डवादियों की इस अवस्थिति से यह स्पष्ट हो चुका है कि इनका मार्क्सवाद से पूर्ण रूप में प्रस्थान हो चुका है और वर्ग विश्लेषण से इनका अब दूर-दूर तक कोई ताल्लुक़ नहीं है। संक्षेप में यह कि कोई भी द्रविड़ प्राणायाम करके इन तीन कृषि अध्यादेशों को क़ौमी दमन का मसला नहीं बनाया जा सकता है। इस तरह की कोई भी कवायद एक बदशक्ल चुटकुले से ज़्यादा कुछ नहीं बन पायेगी। लेकिन सिर्फ़ इसी मसले पर ही नहीं, हमारे ट्रॉट-बुण्डवादियों ने हर मसले पर ही अपने आपको एक भद्दे लतीफ़े में तब्दील कर दिया है।

बहरहाल, आगे बढ़ते हैं।

इन सभी बातों को समझने वाले कुछ साथी भी एक सवाल को लेकर कुछ भ्रमित हैं। वे समझते हैं कि मौजूदा आन्दोलन धनी किसानों व कुलकों का आन्दोलन है, उसकी माँगों में सर्वहारा वर्ग का कोई लाभ नहीं है और उनका वर्ग चरित्र प्रतिक्रियावादी है, लेकिन वे इस बात पर विचार कर रहे हैं कि क्या तात्कालिक तौर पर फ़ासीवादी मोदी सरकार के ख़िलाफ़ ये धनी किसानों-कुलकों का आन्दोलन हमारा रणकौशलात्मक मित्र बन सकता है? इस बात पर विचार करना भी यहाँ प्रासंगिक होगा क्योंकि यह भ्रम बहुत से ग़लत नतीजों पर ले जा सकता है।

8. क्या धनी किसानों व कुलकों के इस आन्दोलन से तात्कालिक तौर पर रणकौशलात्मक फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चा बन सकता है?

इसका सीधा उत्तर है: नहीं! क्यों? **फ़ासीवाद के विरुद्ध कोई तात्कालिक रणकौशलात्मक मोर्चा भी ऐसे आन्दोलनों के साथ नहीं बन सकता है, जिनकी माँगें सीधे सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के ख़िलाफ़ जाती हों।** आम तौर पर ही यदि शासक वर्ग के दो धड़ों के बीच आपसी अन्तरविरोध है, तो सर्वहारा वर्ग दांव-पेच के तौर पर साझे शत्रु के विरुद्ध शासक वर्ग के किसी अलग ब्लॉक से रणकौशलात्मक मोर्चा तभी बना सकता है, जब कि उस ब्लॉक की माँगें सीधे सर्वहारा वर्ग के ख़िलाफ़ न जाती हों, जो कि अपवादस्वरूप स्थितियों में ही होता है।

मौजूदा सूरत में ऐसा नहीं है। धनी किसान व कुलक वर्ग की माँगें न सिर्फ़ सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के ख़िलाफ़ जाती हैं, बल्कि वे सीधे-सीधे सर्वहारा वर्ग और आम ग़रीब किसान आबादी के हितों पर सक्रियता से चोट कर रही हैं।

इसके अलावा, धनी किसानों व कुलकों का यह वर्ग कितनी फ़ासीवाद-विरोधी सम्भावनासम्पन्नता और विश्वसनीयता रखता है, यह विशेष तौर पर हम पिछले एक दशक में देख चुके हैं। नवउदारवाद के दौर में क्लासिकीय कुलक राजनीति के विघटन और प्रस्थान के साथ इस ख़ाली जगह को संघ परिवार व भाजपा की फ़ासीवादी राजनीति व अन्य प्रकार की दक्षिणपन्थी व धार्मिक कट्टरपन्थी राजनीति ने तेज़ी से भरा है। विशेष तौर पर, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा में इस परिघटना को देखा जा सकता है। यह वर्ग अपनी प्रकृति से ही फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चे का संश्रयकारी नहीं बनता, बल्कि उल्टे फ़ासीवाद का सामाजिक आधार बनने की सम्भावना-सम्पन्नता रखता हैं और कुछ निश्चित स्थितियों में विशेष तौर पर उत्तर भारत में बना भी है। तात्कालिक तौर पर, किसी आर्थिक मुद्दे या किसी विशिष्ट माँग पर इसका फ़ासीवादी सरकार के साथ अन्तरविरोध हो सकता है, जो कि काफ़ी तीखा भी हो सकता है। **लेकिन यह वर्ग मुख्यत: और मूलत: किसी फ़ासीवाद-विरोधी सम्भावनासम्पन्नता से रिक्त है और मौक़ा पड़ने पर फ़ासीवादियों के साथ या अन्य प्रकार की धार्मिक कट्टरपन्थी या दक्षिणपन्थी राजनीति के साथ खड़ा हो सकता है और हालिया दौर में होता भी रहा है।**

इसके अलावा, गाँवों में यह वर्ग दलित खेतिहर मज़दूर आबादी का प्रमुख उत्पीड़क व शोषक सिद्ध हुआ है। दरअसल, कुलकों व धनी किसानों का यह वर्ग समूची खेत मज़दूर आबादी का प्रमुख उत्पीड़क व शोषक सिद्ध हुआ है। इसकी वजह स्पष्ट है। यह खेतिहर पूँजीपति वर्ग अपने अधिशेष विनियोजन व मुनाफ़े के लिए मुख्य तौर पर इसी खेत मज़दूर आबादी के श्रमशक्ति के दोहन पर निर्भर है। ऐसी सूरत में अक्सर ही यह होता है कि प्रमुख शोषक वर्ग अपने द्वारा शोषित मेहनतकश जनता की सामाजिक रूप से अरक्षित स्थिति का इस्तेमाल भी करते हैं, ताकि उनका सामाजिक उत्पीड़न व दमन भी किया जा सके, क्योंकि यह सामाजिक उत्पीड़न और दमन इन शोषित वर्गों को आर्थिक तौर पर और भी अरक्षित बना देता है। अभी कुछ ही दिनों पहले पंजाब और हरियाणा में प्रवासी मज़दूरों की कमी के कारण इन प्रदेशों के दलित खेतिहर मज़दूरों के साथ इन धनी किसानों व कुलकों ने क्या बर्ताव किया है, यह भी किसी से छिपा नहीं है।

इसके अलावा, पिछले दिनों में धनी किसानों और कुलकों के इस वर्ग के बीच धार्मिक कट्टरपन्थी दक्षिणपन्थी राजनीति और साथ ही साम्प्रदायिक फ़ासीवादी राजनीति की बढ़ती जड़ों को भी सभी ने देखा है। यह इस वर्ग की आर्थिक स्थिति है जो इसे राजनीतिक प्रतिक्रिया की ज़मीन बनाती है।

आज यदि यह वर्ग लाभकारी मूल्य के मूल प्रश्न पर सरकार के ख़िलाफ़ सड़कों पर है, जैसा कि वह पहले भी बीच-बीच में करता रहा है, तो इससे प्रगतिशील शक्तियों को बहुत आशान्वित होने की आवश्यकता नहीं है। हमेशा की तरह बड़ी इजारेदार पूँजी के हाथ को ऊपर रखने वाला कोई नया समझौता, कोई नया क़रार शासक वर्ग के इन दो धड़ों के भीतर कालान्तर में हो ही जायेगा, यह आन्दोलन किसी क्रान्तिकारी उभार की तरफ़ नहीं जाने वाला है! ऐसी उम्मीद रखने वालों के बीच दरअसल यह उम्मीद एक नाउम्मीदी से पैदा हुई है।

यह अनायास नहीं है कि धनी किसानों और कुलकों के पक्ष में तमाम पार्टियों के नेता, पूँजीवादी सड़कछाप गायक, अश्लीलता में प्रतिस्पर्द्धा करने वाले तमाम "कलाकार" उतर आये हैं, जो कि कुलक व धनी किसानों की आर्थिक शक्तिमत्ता के ही सांस्कृतिक प्रतीक हैं और अपने गीतों आदि में इसी 'चौधर की हनक' को पेश करते नज़र आते हैं। **कुछ मूर्ख अनपढ़ "मार्क्सवादी" कह रहे हैं कि ये गायक-कलाकार आदि इस आन्दोलन को हड़प रहे हैं, जबकि सच्चाई यह है कि इस आन्दोलन का स्वाभाविक वर्ग चरित्र उन्हें आकर्षित कर रहा है और वे आन्दोलन को हड़पने नहीं आए हैं, बल्कि अपनी स्वाभाविक वर्ग अवस्थिति से उसकी ओर आये हैं।**

यह प्रगतिशील शक्तियों का पराजयवाद है जो उन्हें ऐसे मज़ाक़िया तर्क देने की ओर ले जा रहा है कि धनी किसानों और कुलकों के इस आन्दोलन के साथ रणकौशलात्मक तौर पर एक फ़ासीवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चा बना लिया जाय। इस आन्दोलन से क्रान्तिकारी शक्तियाँ ऐसा कोई मोर्चा बनाकर (हालांकि ऐसा मोर्चा बन पाना ही बेहद मुश्किल है) अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारेंगी। लुब्बेलुबाब यह कि अपने पराजयबोध के कारण प्रगतिशील दायरों की जो ताक़तें धनी किसानों व कुलकों के इस आन्दोलन से फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चा बनाने का यूटोपियाई और अव्यावहारिक विचार पाले हुए हैं, वह क़तई नुक़सानदेह है और हमें अपनी शक्तियों को विकसित करने और एक स्वतंत्र राजनीतिक अवस्थिति को विकसित करने से रोकेगा। साथ ही, इस प्रकार के संश्रय के प्रस्ताव के पीछे फ़ासीवाद-विरोधी 'पॉप्युलर फ्रण्ट' के मॉडल का एक दरिद्र संस्करण भी खड़ा है, जो कि विशेष तौर पर आज के दौर में, फ़ासीवाद-विरोधी रणनीति और कार्यनीति, दोनों के ही तौर पर, न सिर्फ़ निष्प्रभावी होगा बल्कि नुक़सानदेह होगा। भारत में फ़ासीवाद के उभार के विशेष तौर पर पिछले चार दशकों ने दिखलाया है कि आज के दौर में फ़ासीवादी उभार के प्रतिरोध के कार्यभार को कोई भी बुर्जुआ ताक़त (चाहे वे कुलक-धनी किसान वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनीतिक दल व संगठन ही क्यों न हों) नहीं निभा सकती है और केवल कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शक्तियाँ ही इसे अंजाम दे सकती हैं और इसलिए आज के दौर में फ़ासीवाद-विरोधी मज़दूर वर्गीय मोर्चे की कार्यदिशा ही कामयाब हो सकती है। इस बिन्दु पर हम यहाँ और विस्तार में विचार नहीं कर सकते और अन्यत्र हमने इस पर विस्तार से अपनी बात रखी है (http://www.mazdoorbigul.net/archives/7743)।

9. निष्कर्ष

हमारे लिए इस पूरी चर्चा के मुख्य नतीजे क्या हैं?

सबसे पहला नतीजा तो यह है कि इन तीन कृषि अध्यादेशों में जो बात व्यापक मेहनतकश जनता के ख़िलाफ़ जाती है वह है आवश्यक वस्तुओं की स्टॉकिंग व व्यापार के विनियमन को समाप्त किया जाना क्योंकि ये इन बुनियादी चीज़ों की जमाखोरी, कालाबाज़ारी और बाज़ार क़ीमतों को बढ़ावा देगा। इसका लाभ व्यापारियों और मध्यस्थों को मिलेगा जो कि खेती के उत्पाद के विपणन के मामले में अक्सर स्वयं धनी किसान व कुलक भी होते हैं। यही वजह है धनी किसानों व कुलकों को इस प्रावधान पर उतनी आपत्ति है भी नहीं और इसका विरोध करने में बस वह कभी-कभी ज़बानी जमाख़र्च मात्र कर रहे हैं या पूरी तरह चुप हैं।

दूसरी बात, इन धनी किसानों और कुलकों के लिए ए.पी.एम.सी. मण्डियों को बचाना भी अपने आप में कोई मुद्दा नहीं है और अगर सरकार लाभकारी मूल्य को इनका क़ानूनी अधिकार बना दे तो ये ए.पी.एम.सी. मण्डियों को कचरा-पेटी में फेंकने के लिए पूरी तरह से तैयार हैं।

तीसरी बात यह है कि यदि कुछ राज्यों में खेती के उत्पाद के विपणन पर ए.पी.एम.सी. मण्डियों का एकाधिकार समाप्त होता है, तो भी इनके विपणन का अवसरंचनात्मक ढाँचा पैदा होगा ही क्योंकि उनके ख़त्म होने से कृषि उत्पादों का विपणन ही नहीं रुक जायेगा। **यह अवश्य है कि अधिक पूँजी-सघन बनने के कारण इसमें से उस सूरत में छंटनी भी हो सकती है, जिस सूरत में विस्तारित पुनरुत्पादन और नतीजतन विस्तारित विपणन व व्यापार ही रुक जाए। कोई ज़रूरी नहीं है कि ऐसा ही होगा, हालांकि संकट के अधिक गहराने पर ऐसा हो भी सकता है।**

चौथी बात यह है कि इस वजह से कम्युनिस्ट मशीनीकरण व तमाम सेक्टरों के अधिक पूँजी-सघन होने का विरोध भी नहीं कर सकते हैं, कि वह प्रति इकाई रोज़गार को कम करेगा। यह एक रूमानीवादी और प्रतिक्रियावादी प्रूधोंवादी या सिस्मोंदीवादी अवस्थिति की ओर जाने के समान होगा। ऐतिहासिक तौर पर, बड़े पैमाने पर उत्पादन और वितरण की व्यवस्था का उभरना, उनका अधिक से अधिक पूँजी-सघन बनना एक प्रगतिशील क़दम होता है।

पांचवी बात यह कि ए.पी.एम.सी. मण्डी में काम करने वाले मज़दूरों के लिए मूलत: और मुख्यत: फर्क सिर्फ़ यह होगा कि उनकी श्रमशक्ति के शोषक बदल जायेंगे। ग्रामीण पूँजीपति वर्ग यानी धनी किसानों, कुलकों, व्यापारियों, सूदखोरों और आढ़तियों की जगह बड़ी कारपोरेट पूँजी उनके श्रमशक्ति का दोहन करेगी। इसमें अपने आप में इन मण्डियों में काम करने वाले सर्वहारा वर्ग का न तो कोई विशेष फ़ायदा है और न ही कोई विशेष नुक़सान। ये मज़दूर अधिकांशत: पहले से ही ठेके या दिहाड़ी पर न्यूनतम मज़दूरी से बेहद कम मज़दूरी पर काम करते हैं। पंजाब में इन मण्डियों में काम करने वाले मज़दूरों की संख्या 2 से 3 लाख के बीच है। इन्हें इन मण्डियों में साल में 5 से 6 महीने ही काम मिलता है। अक्सर इनमें अच्छी-ख़ासी तादाद खेतिहर मज़दूरों की भी होती है। इन्हें ये धनी किसान और आढ़ती जमकर निचोड़ते हैं और कोई भी श्रम अधिकार नहीं देते। ऐसे में, इनकी स्थिति कारपोरेट पूँजी के प्रवेश से और बुरी हो जायेगी इसकी गुंजाइश कम है, क्योंकि इससे बुरी स्थिति होना मुश्किल है।

छठी बात, जहाँ तक लाभकारी मूल्य को सुनिश्चित करने वाली सारी माँगों का प्रश्न है, वह भी कुल अधिशेष विनियोजन में कारपोरेट पूँजीपति वर्ग द्वारा खेतिहर पूँजीपति वर्ग के बरक्स अपना हिस्सा बढ़ाने और कुल अर्थव्यवस्था में औसत मज़दूरी पर बढ़ने के दबाव को रोकने की कवायद है। दूसरे

शब्दों में, ये माँगें पूँजीपति वर्ग के दो धड़ों, यानी इजारेदार बड़ा पूँजीपति वर्ग (जिसमें स्वयं पंजाब और हरियाणा का बड़ा इजारेदार पूँजीपति वर्ग भी शामिल है) और ग्रामीण खेतिहर पूँजीपति वर्ग यानी धनी किसानों व कुलकों के वर्ग के बीच का अन्तरविरोध है, जो कि कुल किसान आबादी का मात्र 3-4 प्रतिशत है। इसमें सर्वहारा वर्ग भला धनी किसानों और कुलकों के हितों की रक्षा करने की अवस्थिति अपनाकर उनकी पालकी का कहार क्यों बनेगा? चाहें आप संघवाद का हवाला देकर धनी किसानों व कुलकों के मंच पर इन कृषि अध्यादेशों का विरोध करने जायें, चाहें आप ए.पी.एम.सी. मण्डी के मज़दूरों के रोज़गार का हवाला देकर इन धनी किसानों व कुलकों के मंच पर जायें, या फिर आप ग़रीब किसानों और खेत मज़दूरों को धनी किसानों व कुलकों के राजनीतिक नेतृत्व से मुक्त कराने (!!!) का मज़ाक़िया होने की हद तक झूठा दावा करते हुए धनी किसानों व कुलकों के इन मंचों पर जायें; **इन मंचों पर जाकर आप मूलत: धनी किसानों और कुलकों की लाभकारी मूल्य की प्रतिक्रियावादी माँग का समर्थन ही कर रहे होंगे, चाहे आप इनके समर्थन में सकारात्मक तौर पर एक शब्द भी बोलने से बच निकलें। यह शुद्ध अवसरवाद और मज़दूर वर्ग के साथ विश्वासघात है, और कुछ नहीं।**

सातवीं बात, ग़रीब किसानों और खेत मज़दूरों के बीच स्वतंत्र राजनीतिक वर्ग चेतना और संगठन निर्माण के राजनीतिक प्रचार को धनी किसानों व कुलकों के मंच पर आयोजित किया ही नहीं जा सकता है। इस प्रचार को लगातार गाँवों में चलाना होगा और इसके लिए अलग राजनीतिक मंचों का निर्माण करना होगा। कौन यह कार्य करता है या कर पाता है, यह एक दीगर सवाल है। जहाँ तक कार्यदिशा का प्रश्न है, यही एकमात्र सही कार्यदिशा हो सकती है। जैसा कि हमने पहले कहा, आप कारसेवकों के प्रदर्शन के मंच पर मन्दिर निर्माण के ख़िलाफ़ बहस करने नहीं जा सकते हैं, यह सम्भव ही नहीं है। **ऐसा दावा करने वाला व्यक्ति केवल एक अवसरवादी, लोकरंजकतावादी और कायर है, जो कि अपने पलायनवाद को छिपा नहीं पा रहा है।**

आठवीं बात, ग़रीब किसानों और खेत मज़दूरों का मुख्य मसला क्या है? उनके दो मुख्य मसले हैं: पहला है रोज़गार गारण्टी का हक़ और दूसरा है खेत मज़दूरों के लिए सभी श्रम अधिकारों को सुनिश्चित करने की लड़ाई। इसकी वजह यह है कि तीन-चौथाई से भी ज़्यादा किसानों की कुल आमदनी का औसतन केवल 16 से 40 प्रतिशत खेती से आता है, बाक़ी उजरती श्रम से, यानी मज़दूरी करके। दूसरी बात, यह 16 से 40 प्रतिशत आमदनी भी अतिशोषण करवाकर आती है क्योंकि वे सीधे सरकारी मण्डियों में बेच ही नहीं पाते हैं, क़र्ज़ तले दबे रहते हैं और धनी किसानों, कुलकों, सूदखोरों और आढ़तियों (जो कि उनके लिए अक्सर एक ही व्यक्ति होता है) को लाभकारी मूल्य से बेहद कम दामों पर अपने उत्पाद को बेचने के लिए मजबूर होते हैं। इसलिए लाभकारी मूल्य या लागत मूल्य की लड़ाई से इस वर्ग का कोई लेना-देना नहीं है। **इसकी लड़ाई के केन्द्र में है रोज़गार गारण्टी का हक़ और साथ ही एक मज़दूर के तौर पर सभी श्रम अधिकारों की गारण्टी और साथ ही सूदखोरों, धनी किसानों, कुलकों व आढ़तियों की असामान्य रूप से अधिक ब्याज़ दर वाले कर्जों से मुक्ति।** जब धनी किसान व कुलक क़र्ज़ माफ़ी की माँग सरकार से करते हैं (जो कि कई दफ़ा पूरी भी हो जाती है!) तो क्या वे पट्टे पर ज़मीन लेकर खेती करने वाले खेतिहर मज़दूर और ग़रीब किसानों के अन्यायपूर्ण क़र्ज़ माफ़ करते हैं या उनसे वसूले जाने वाले पूँजीवादी लगान को कम या माफ़ करते हैं? कभी नहीं!

नौवीं बात, जहाँ तक मध्य मध्यम व निम्न मध्यम किसानों का सवाल है, जो कि कभी-कभी उजरती श्रम का शोषण करते हैं या कम पैमाने पर उजरती श्रम का शोषण करते हैं, वे भी लाभकारी मूल्य का ज़्यादा फ़ायदा नहीं उठा पाते हैं। इनमें भी निम्न मध्यम किसान बिरले ही उजरती श्रम का शोषण करते हैं और मुख्यत: अपने और अपने परिवार के श्रम के बूते ही खेती करते हैं। ये वर्ग भी क़र्ज़ तले दबा रहता है और इसका बड़ा हिस्सा सर्वहाराओं की क़तार में शामिल होता जाता है। मध्य मध्यम किसान वर्ग के उत्पाद का भी मुश्किल से 14-15 फीसदी ही लाभकारी मूल्य पर बिक पाता है, अगर कभी बिक पाता है तो। लेकिन इसकी वजह से वे इस भ्रम में रहते हैं कि लाभकारी मूल्य बढ़ने का उन्हें कोई लाभ मिलेगा। सच्चाई यह है कि ये आबादी भी अधिकांश मामलों में मुख्यत: कृषि उत्पादों की ख़रीदार है न कि विक्रेता। यदि इन्हें लाभकारी मूल्य बढ़ने से कोई नुक़सान नहीं भी होता, तो कोई फ़ायदा भी नहीं होता है। इनके बीच सर्वहारा शक्तियों को सतत् प्रचार करना चाहिए कि उनके हित धनी किसानों व कुलकों के साथ नहीं जुड़े हैं, बल्कि सर्वहारा वर्ग के साथ जुड़े हैं। 2011 में ही लगभग 50 प्रतिशत किसान पहला अवसर मिलते ही खेती छोड़ना चाहते थे और सरकारी नौकरी के लिए रिश्वत देने तक के लिए अपना खेत बेचने को तैयार थे। इन किसानों में ग़रीब व परिधिगत किसानों के अलावा एक अच्छी-ख़ासी तादाद मध्य मध्यम व निम्न मध्यम किसानों की थी। **यही दिखलाता है कि इनकी प्रमुख माँग अब रोज़गार के हक़ की बनती जा रही है और ये खेती से तब तक चिपके हुए हैं, जब तक कि कोई और विकल्प निगाह में नहीं है।** पिछले दशक में जो 1 करोड़ से भी ज़्यादा किसान बरबाद होकर मज़दूरों की कतार में शामिल हुए हैं, उनका 95 प्रतिशत हिस्सा ग़रीब, परिधिगत किसानों और निम्न मंझोले किसानों का ही है। मध्यम किसानों में से कई की जोतों का आकार घट गया और वे निम्न मध्यम और ग़रीब किसानों की तादाद में शामिल हो गये हैं।

दसवीं बात, लुब्बेलुबाब यह कि ग़रीब, निम्न मध्यम और मध्यम किसानों की बहुसंख्या की नियति पूँजीवादी व्यवस्था में तबाह होने की ही है। छोटे पैमाने के उत्पादन और इस समूचे वर्ग को बचाने का कोई भी वायदा या आश्वासन इन वर्गों को देना उनके साथ ग़द्दारी और विश्वासघात है और उन्हें राजनीतिक तौर पर धनी किसानों और कुलकों का पिछलग्गू बनाना है। तो फिर इनके बीच में हमें क्या करना चाहिए? *जैसा कि लेनिन ने कहा था: सच बोलना चाहिए! सच बोलना ही क्रान्तिकारी होता है।* हमें पूँजीवादी समाज में उन्हें उनकी इस अनिवार्य नियति के बारे में बताना चाहिए, उनकी सबसे अहम माँग यानी रोज़गार के हक़ की माँग के बारे में सचेत बनाना चाहिए और उन्हें बताना चाहिए कि उनका भविष्य समाजवादी खेती, यानी सहकारी, सामूहिक या राजकीय फार्मों की खेती की व्यवस्था में ही है। केवल ऐसी व्यवस्था ही उन्हें ग़रीबी, भुखमरी, असुरक्षा और अनिश्चितता से स्थायी तौर पर मुक्ति दिला सकती है। **दूरगामी तौर पर, समाजवादी क्रान्ति ही हमारा लक्ष्य है। तात्कालिक तौर पर, रोज़गार गारण्टी की लड़ाई और खेत मज़दूरों के लिए सभी श्रम क़ानूनों की लड़ाई, और सभी कर्जों से मुक्ति की लड़ाई ही हमारी लड़ाई हो सकती है।** केवल ऐसा कार्यक्रम ही गाँवों में वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाएगा और ग्रामीण सर्वहारा वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग को एक स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति के रूप में संगठित करेगा और समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार करेगा।

ग्यारहवीं बात, यह क्रान्तिकारी प्रचार ही ग़रीब, निम्न मध्यम और मध्य मध्यम किसानों के वर्गों को धनी किसानों और कुलकों के वर्ग के राजनीतिक नेतृत्व से स्वतंत्र कर सकता है। ग़रीब किसानों के वर्ग की भारी

बहुसंख्या को इसके ज़रिये जीता जा सकता है, निम्न मध्यम किसानों के भी बड़े हिस्से को जीता जा सकता है और मध्य मध्यम किसानों के अपेक्षाकृत उससे छोटे हिस्से को जीता जा सकता है। इसकी वजह यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था में इनकी नियति में थोड़ा फर्क होता है। ग़रीब किसान तो मूलत: और मुख्यत: पहले ही सर्वहारा की कतारों में शामिल होने लगता है; निम्न मध्यम किसानों का एक बेहद छोटा हिस्सा अपवादस्वरूप स्थितियों में मध्यम किसान बन पाता है, दूसरा हिस्सा ग़रीब किसानों में तब्दील होता है और सबसे बड़ा तीसरा हिस्सा सर्वहारा वर्ग की कतार में शामिल हो जाता है; मध्य मध्यम किसानों का एक छोटा-सा हिस्सा उच्च मध्यम व धनी किसानों में तब्दील होता है, उससे बड़ा हिस्सा ग़रीब व निम्न मध्यम किसानों की कतार में शामिल होता है और बाक़ी हिस्सा सर्वहारा वर्ग की कतार में शामिल होता है। इन वर्गों पर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के इन विभेदक प्रभावों के कारण क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार और समाजवाद के प्रति इनकी प्रतिक्रिया में भी कुछ अन्तर होना लाजिमी है। **लेकिन एक वर्ग के तौर पर कहा जाय, तो ये मुख्यत: और मूलत: समाजवादी क्रान्ति के मित्र वर्ग हैं और इनका धनी किसानों व कुलकों से कुछ भी साझा नहीं है।**

लेकिन इस क्रान्तिकारी प्रचार को लाभकारी मूल्य को बचाने के लिए की जा रही भारतीय किसान यूनियन की रैली में नहीं किया जा सकता है! जो ऐसा प्रस्ताव भी रखता है, वह या तो हद दर्ज़े का मूर्ख है, या फिर हद दर्ज़े का अवसरवादी धूर्त जो आपको मूर्ख बनाने की कोशिश कर रहा है और इस प्रक्रिया में अपने अवसरवाद, लोकरंजकतावाद, नरोदवाद की ओर संक्रमण और दक्षिणपन्थी भटकाव को छिपाने की कोशिश कर रहा है, लफ़्फ़ाज़ी कर रहा है और सर्वहारा वर्ग को धोखा देने का काम कर रहा है।

ऐसे क्रान्तिकारी प्रचार को गाँवों के ग़रीबों के बीच क्रान्तिकारी शक्तियाँ स्वतंत्र और स्वायत्त तौर पर ही आयोजित कर सकती हैं। इसके लिए खेत मज़दूरों व ग़रीब किसानों को संगठित करना, उनकी यूनियनें बनाना, उन्हें रोज़गार के हक़ के सवाल पर मनरेगा यूनियनों व अन्य प्रकार के जनसंगठनों में संगठित करना और इन संगठनों व मंचों के ज़रिये उन्हें उनके वर्ग हितों के प्रति सचेत बनाना, सर्वहारा वर्ग के साथ खड़ा करना और समाजवादी कार्यक्रम पर सहमत करना होगा।

यह आलेख मार्क्सवाद और भारत में आज किसान प्रश्न पर हमारी सांगोपांग अवस्थिति को अपने आप में पेश नहीं करता और आगे हम इस पर और विस्तार से और सकारात्मक तौर पर भी लिखेंगे। **अभी हमारा मकसद सिर्फ़ इतना था कि मौजूदा कृषि अध्यादेशों, जारी धनी किसानों व कुलकों के आन्दोलन तथा उसके बारे में मज़दूर-वर्गीय नज़रिये को इनके विशिष्ट सन्दर्भ में स्पष्ट करें।** इस प्रक्रिया में हम जिस हद तक किसान प्रश्न व कृषि प्रश्न पर आम तौर पर अपनी बातें कह सकते हैं, यहाँ हमने उतना ही कहा है। आगे हम भारतीय खेती में पूँजीवादी लगान, भूमि सुधार के प्रश्न, काश्तकारी सम्बन्धों के चरित्र के प्रश्न और आज के दौर में गाँव के ग़रीबों, यानी मज़दूरों व ग़रीब व निम्न मध्यम किसानों के राजनीतिक वर्ग हितों के विषय में विस्तार से लिखेंगे।

-